हिन्दू कला दृष्टि

संस्कार भारती क्यों ?

दत्तोपन्त ठेंगड़ी

हिन्दू कला-दृष्टि

संस्कार भारती क्यों?

लेखक :

दत्तोपंत ठेंगड़ी

अनुवादक : रघुनाथ सिंह

सुरुचि प्रकाशन केशव कुञ्ज, नयी दिल्ली -110055

प्रकाशक : सुरुचि प्रकाशन

(सुरुचि संस्थान का प्रकाशन विभाग) केशव कुंञ्ज, झण्डेवाला,

नयी दिल्ली - 110055

प्रथम संस्करण :

युगाब्द 5094 विक्रम संवत् 2049 , ई०1992

सुरुचि प्रकाशन

मूल्य : दस रुपये

अक्षर-संयोजक : ऑफिस फोटोस्टेट प्रिण्टर्स,

102, म्यूनिसिपल मार्केट, कनाट सर्कस, नयी दिल्ली

प्रकाशकीय निवेदन

“कला संस्कृति का अलंकार है और संस्कृति कला का अधिष्ठान ।“ इस पुस्तक का सृजन सामान्यत: सपूर्ण कला-जगत् के लिए और विशेष रूप से 'संस्कार भारती' के मार्गदर्शन के लिए किया गया है ।

संस्कार भारती के जुड़वाँ उद्देश्य हैं-कलाओं की सृजनात्मकता, सामाजिकता तथा शिक्षाप्रदता का संवर्धन करना और मानव को सत्यम् शिवम् सुन्दरम् के परमानंद की अनुभूति कराना । कला हमें प्रेरणा देती है और उदात्तता की ओर ले जाती है । वह मानव मन में प्रतिष्ठित करुणा को प्रस्फुटित करती है । कला, करुणा तथा मानवीयता की संयुति हमारे सामाजिक जीवन की पावन त्रिवेणी का निर्माण करती है । संस्कार भारती की संकल्पना का उद्देश्य इस शाश्वत सिद्धान्त को पुन: पुष्ट करना और प्रत्येक ललित कला को उसके प्राचीन वैभव के उच्च सिंहासन पर विराजमान करना है । इस पुस्तक की रचना करके माननीय दत्तोपंत ठेंगड़ी ने कला-प्रेमियों और पारखियों के लिए एक मननीय संदेश तथा संस्कार भारती को अपना आशीर्वाद दिया है । यह एक अद्भुत सृजन है । इसमें कला-जगत् के उदात्त परिदृश्य का एक द्रष्टा द्वारा किया गया निरूपण है । इसने अपने आवरण में विश्व की विभिन्न धर्म-सम्प्रदाय परम्पराओं तथा विभित्र प्रदेशों एवं कालखंडों में विद्यमान पूर्व तथा पश्चिम की संकल्पनाओं को समेटा है । यह विनिबंध एक महान् कृति है । इसका अध्ययन करके इसके संदेश को आत्मसात् किया जाना चाहिए और अगाध ज्ञान एवं अन्तर्दृष्टि की अनमोल निधि के रूप में चिरकाल तक संजोया जाना चाहिए ।

अनुक्रमणिका

१. अबोधगम्य

२. दृष्टिकोण

३. दिशा

भाग एक

अबोधगम्य

अबोधगम्य (1)

उत्तरोत्तर प्रस्फुटन

नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने एक बार लिखा था :

“इस नश्वर जगत् में सब कुछ नाशवान है और निश्चय ही वह नष्ट हो जायेगा, किन्तु विचार, आदर्श और स्वप्न कभी नष्ट नहीं होते ।“

१९२५ के विजयादशमी के दिन एक ऋषि के मानस में एक, दिव्य साक्षात्कार हुआ था और वह था वैभव के शिखर पर प्रारूढ़ अपनी मातृभूमि का विराट् दर्शन । उनके स्वप्न को उत्तरोत्तर साकार करने की प्रक्रिया में 'संस्कार भारती' की स्थापना एक महत्त्वपूर्ण चरण है, एक अविस्मरणीय महान् उपलब्धि ।

संस्कार भारती

'संस्कार भारती' का श्रीगणेश कब हुआ? औपचारिक रूप से 1 जनवरी 1981 को । किन्तु अनौपचारिक रूप से उसकी भावनात्मक नींव 1954 में ही पड़ चुकी थी ।

डॉ० के. डी. स्वामीनाथन हमें बताते हैं कि फ्रांस, स्पेन, सहारा, उत्तरी यूरोप, साइबेरिया, दक्षिण अफ्रीका, आस्ट्रेलिया तथा उत्तर, मध्य और दक्षिण अमरीका के प्रस्तरयुगीन चित्रों के बारे में तो पश्चिमी जगत् में प्रकाशनों की बाढ़ सी आ गयी, पर उसके उपरान्त भी भारत के प्रस्तरयुगीन चित्रों के उल्लेख वाला भारत से बाहर कोई प्रकाशन नहीं हुआ । उनका उल्लेख प्रथम बार तभी हुआ जब 1968 में ब्रिजेट तथा रेमंड अलेहिन (Bridget and Raymond Allchin) ने अपनी कृति 'बर्थ ऑफ इंडियन सिविलाइजेशन' (The Birth of Indian Civilisation) में इस संबंध में एक अध्याय जोड़ा । समूचे विश्व में पाये जाने वाले प्रस्तरयुगीन चित्रों के बारे में पश्चिम की सभी

सामान्य कृतियाँ भारत की अनदेखी करती हैं और वे समूची विशाल व्याख्या में इस पर आधे अशुद्ध वाक्य से अधिक कुछ नहीं लिखती ।

मध्य भारत के बलुआ पत्थर में 8000 वर्षों के कालखंड की कहानी कहने वाले शैल-चित्रों का विशाल भंडार है । संख्या, विषय तथा शैली की विविधता तथा वैज्ञानिक महत्त्व की दृष्टि से प्रस्तरयुगीन कला के भंडार के रूप में भूतल का कोई भी अन्य क्षेत्र दक्षिण भारत से आगे नहीं हो सकता ।

भले ही 1861 में भारतीय पुरातत्व-सर्वेक्षण विभाग की स्थापना हो चुकी थी और पुरातत्त्वीय संदर्भ में शैल-चित्र का प्रथम उल्लेख 1880 में मिलता है, फिर भी 1958 से पूर्व शैल-चित्रों को विस्तृत परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने का कोई गंभीर प्रयास नहीं किया गया । किन्तु तब यह कार्य बड़ी पिछड़ी अवस्था में था । 1954 में विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन के श्री विष्णु वाकणकर ने प्रागैतिहासिक भारतीय चित्रों के अभिलेख की जानकारी विश्व को देने के लिए एकल-व्यक्ति अभियान छेड़ा । तब से उन्होंने एक त्रिभुजाकर क्षेत्र में स्थित सैकड़ों चित्रित आश्रयस्थलों को खोज निकाला और उनका वर्णन किया है । इस क्षेत्र की आधार-रेखा उत्तर में वारणसी से उदयपुर तक फैली हुई है और उसका शिखर-बिन्दु दक्षिण में मैसूर में है ।

गत वर्षों में उन्हें अपने कार्य के लिए राष्ट्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर महती मान्यता प्राप्त हुई ।

'संस्कार भारती' की भावना वाकणकर जी के एकल-व्यक्ति अभियान के प्रथम दिन ही सजीव तथा सक्रिय हो गयी थी ।

लखनऊ में संगठन के औपचारिक उद्‌घाटन के साथ वह साकार भी हो गयी है।

ऐसे सभी देशभक्त प्रणेताओं के स्वप्न साकार होते हैं क्योंकि उनके सिर पर भारत की राष्ट्र-शक्ति का वरद हस्त होता है ।

'संस्कार'

'संस्कार' शब्द का प्रयोग तो बहुत होता है, किन्तु कोई विरला ही उसके अर्थ को समझ पाता है । साधारण व्यक्ति 'संस्कार' को शिक्षा का पर्याय समझता है । वैसे तो शिक्षा अपने आप में एक अति उदात्त कर्म है, परन्तु गुणात्मक दृष्टि से वह संस्कार से भिन्न है । जहाँ शिक्षा का संबंध बुद्धि से है, वहाँ संस्कार का संबंध मन,हृदय,आत्मा से है । हो सकता है कि एक उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति 'संस्कार-विहीन' हो और एक उच्च 'सुसंस्कृत' व्यक्ति अनपढ़ हो । 'संस्कार' अनेक तत्त्वों का सामूहिक प्रतिफल होता है । ये तत्व आतंरिक भी होते हैं और बाह्य भी, व्यक्तिपरक भी होते हैं और वस्तुपरक भी । ऐसे तत्वों में कला का स्थान सर्वोपरि है । 'संस्कार भारती' कला अर्थात् हिन्दू कला के माध्यम से 'संस्कार-रोपण' के ध्येय को पूरा करना चाहती है ।

हिन्दू कला तथा हिन्दू मानस

हमारा देश चार दशक से भी पहले स्वाधीन हो गया, किन्तु यहाँ का आधुनिक शिक्षित मानस अब भी पहले की भाँति ही दास भाव से जकड़ा हुआ है । अंग्रेजी रंग में रंगा हिन्दू अब भी यही प्रयास करेगा कि भारत की हर स्थिति को यूरोपीय गज से नापे, भारत की हर समस्या को यूरोपीय दृष्टिकोण से परखे और भारत की हर वस्तु को यूरोपीय चश्मे से देखे । 'हिन्दू' से जुड़ी कोई भी वस्तु तभी महान् समझी जा सकती है जब उसे महानता के बारे में किसी पश्चिमी विशेषज्ञ का प्रमाणपत्र मिले । विवेकानंद अपने शिकागो अभिभाषण के बाद ही महान् बने । रवीन्द्र-संगीत संगीत की वैज्ञानिक कोटि में तभी आया जब गुरुदेव को नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया । हिन्दू साहित्य की कोई भी कृति तब तक सुन्दर नहीं हो सकती जब तक यूरोपीय देशों में कोई शोपेनहावर उसका गुणगान न करें । अंग्रेजी साँचे-ढ़ाँचे में ढले हिन्दू की दृष्टि में 'सुन्दर वस्तु' स्वत: ही शाश्वत आनंद का निर्झर नहीं बन जाती ।

ठेठ फैशनपरस्त हिन्दू की तुलना में पश्चिम का सच्चा गुणग्राही कलामर्मज्ञ हिन्दू कला की अधिक सहज भाव तथा बेहतर ढंग से सराहना तथा आराधना कर सकता है । आधुनिकता से ओतप्रोत हिन्दू हृदय को छूने के लिए तो हिन्दू कला को किसी पश्चिमी प्रमाणपत्र की अपेक्षा रहती ही है ।

यह सच है कि हिन्दुस्थान के हृदय को हृदयंगम करने के लिए अभी हाल तक यूरोपवासियों की ओर से कोई गंभीर प्रयास नहीं किया गया है ।

'दि स्टोरी ऑफ सिविलाइजेशन' (The story of Civilisation) खंड १ : 'अवर ओरिएण्टल हेरीटेज' (Our Oriental Heritage) में विल डूरैण्ट (Will Durant) ने कहा है "आधुनिक विद्यार्थी के लिए इससे अधिक घोर लज्जा की बात नहीं हो सकती कि भारत के बारे में उसे अति अभिनव तथा अपर्याप्त जानकारी है । यह लगभग २० लाख वर्ग मील में फैला एक विशाल प्रायद्वीप है । आकार में वह अमरीका से दो-तिहाई तथा अपने स्वामी ग्रेट ब्रिटेन से बीस गुना बड़ा है । वहाँ बत्तीस करोड़ (३२, ००, ००, ०००) आत्मा निवास करते हैं । यह जनसंख्या उत्तर तथा दक्षिण अमरीका की कुल जनसंख्या से भी अधिक है । अथवा यों कहिए कि धरती की जनसंख्या का वह पाँचवाँ भाग है । वहाँ मोहनजोदड़ो की २९०० ई०पू० अथवा उससे भी पूर्व से लेकर गांधी, रमण तथा टैगोर तक की विकास एवं सभ्यता की भव्य परम्परा है । वहाँ आदिम मूर्तिपूजा से लेकर अति सूक्ष्म तथा आध्यात्मिक सर्वेश्वरवाद की पराकाष्ठा तक पहुँचने वाले मत हैं । वहाँ अर्वाचीन और प्राचीन का अद्भुत् संगम है । वहाँ ईसा से आठ शती पूर्व उपनिषदों के काल से लेकर ईसा से आठ शती पश्चात् शंकर तक ऐसे दार्शनिक हुए हैं जिन्होंने अकेले अद्वैतवाद के विषय में हजार रूपान्तर प्रस्तुत किये हैं । वहाँ ऐसे वैज्ञानिक हुए हैं जिन्होंने तीन हजार वर्ष पूर्व खगोल विज्ञान का विकास किया और हमारे अपने काल में नोबेल पुरस्कार प्राप्त किये । वहाँ ग्रामों में अज्ञात पुरातनता वाला लोकतंत्रात्मक संघटन है । वहाँ राजधानियों में अशोक तथा अकबर जैसे बुद्धिमान तथा परोपकारी शासक हुए हैं । वहाँ लगभग होमर जितने पुरातन महाकाव्यों का गान करने वाले चारण हुए हैं और आज की अन्तरराष्ट्रीय गोष्ठियों में श्रोताओं को मंत्रमुग्ध करने वाले कवि हुए हैं । वहाँ ऐसे कलाकार हुए हैं जिन्होंने तिब्बत से श्रीलंका तक ओर कम्बोडिया से जावा तक हिन्दू देवी-देवताओं के लिए विशाल मन्दिरों का निर्माण किया है और मुगल बादशाहों तथा बेगमों के लिए बीसियों सर्वांगपूर्ण महल तराश कर खड़े किये हैं । यह है वह भारत जिसे अब स्थिरमना विद्वान् एक नये बौद्धिक महाद्वीप के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं उस पश्चिमी मानस को जो कल तक सभ्यता को केवल यूरोप की वस्तु समझता था ।"

हिन्दू कला और पश्चिमवासी

सुदूर अतीत में निश्चय ही यूरोपवासियों के सामने हिन्दू कला के बारे में अति अस्पष्ट तथा धुंधली छवि रही होगी । 18 वीं शती के अन्तिम 25 वर्षों में फ्रान्सिस फोक्स तथा सर विलियम जोन (Francis Fowkes and Sir William Jones) ने हिंदुओं की वीणा तथा उनके संगीत के 'रागों' का परिचय पश्चिम को कराया । हिन्दू जीवन के सौन्दर्य-पक्ष के प्रति यूरोपीय कला-प्रेमियों की आतुरता तथा अभिरुचि का प्रवाह अबाध गति से चलता रहा । इसके फलस्वरूप जहाँ एक ओर कलाओं के सच्चे प्रेमियों ने हिन्दू कला की उत्तरोत्तर और अधिक सराहना की, वहाँ दूसरी ओर कला के क्षेत्र में साम्राज्यवादियों तथा उनके पिट्ठुओं में ईर्ष्या और आशंका की आग भड़की । इसी कारण हमें अति उच्च गुणगान के साथ-साथ जघन्य विद्वेषपूर्ण निन्दा भी देखने को मिलती है ।

विदेशी कलाप्रेमी

हिन्दू कला के सम्पर्क में आने के बाद पश्चिम के अनेक कलाप्रेमी उसके दीवाने हो गये । उन्हें कला से सच्चा प्रेम था । उनके मानस राजनीतिक तथा आर्थिक साम्राज्यवाद के कला से असंगत प्रभावों से कलुषित नहीं थे । प्रस्तुत हैं कतिपय उद्गार :

आबू पर्वत पर स्थित विमला तथा तेज-पाल के जैन मंदिरों के बारे में फर्ग्यूसन (James Fergusson) ने कहा है, “उनमें विवरण के सूक्ष्म निरूपण तथा समुचित अलंकरण का चमत्कार है जिससे बढ़कर या उसकी बराबरी का भी कोई अन्य उदाहरण शायद अन्यत्र कहीं नहीं है । आक्सफोर्ड अथवा वेस्ट मिन्स्टर में हेनरी सप्तम के चैपेल (प्रार्थनागृह) में गोथिक वास्तुशिल्पियों द्वारा प्रस्तुत नमूने उनकी तुलना में अनगढ़ भी हैं और भद्दे भी ।"

एडमंड गिलेस (Edmond Gilles) : “जब हम 'कत्थकली' के इस प्रदर्शन को देखकर लौटे तो हमें वास्तव में ऐसा लगा कि पश्चिमी जगत् के जिस रंगमंच ने हमें अत्यधिक प्रभावित किया था, उसकी अब कोई सार्थकता ही नहीं रही और पूर्वी रंगमंच से हमें अभी जितना अधिक सीखना है उसकी कोई सीमा नहीं है ।“

प्रस्तुत हैं 'शाकुन्तलम्' पर गेटे (Goethe) के विचार, जिन्होंने लगता है कि अपने 'फौस्ट' (Faust) के लिए आमुख का भाव कालिदास से लिया है :

"अरी यौवन के उफान की मादक मंजरियो, अरी यौवन के ढलान की विषाद भरी वेदना, और आत्मा को आनंदित, आस्वादित, मोहित-सम्मोहित, तृप्त-परितृप्त करने वाले समस्त भावों, अरे भूलोक तथा स्वर्गलोक, सुनो-सुनो और गुनो, क्या तुम सबको किसी एक नाम से समेटा और लपेटा जा सकेगा? हे शकुन्तला, मैं तो बस तेरा, केवल तेरा ही नाम लूंगा और मौन हो जाऊंगा और यह पर्याप्त होगा ।"

विदेशी आलोचक

किन्तु यह कला-प्रेम अपवादस्वरूप है ।

अभी हाल तक पश्चिम में हिन्दू कला का कोई समुचित समाकलन नहीं किया गया । उसके बारे में अनेकानेक मिथ्या धारणाएं बनायी और फैलायी गयीं । उसे कलंकित किया गया । उग्र आलोचकों ने प्राय: जानबूझकर उस पर निराधार निन्दाओं की बोछार की । यथा, अजन्ता शैली "समसामयिक रोमन साम्राज्य की सर्वदेशीय कला की एक स्थानीय शाखा" थी और गुफा १ के चित्रों में "पारसी दूतों द्वारा अपने प्रमाण-पत्र प्रस्तुत किये जाने के समारोह का सजीव चित्रण" है और यह अजन्ता शैली की अमौलिक प्रवृत्ति का विशिष्ट प्रमाण है । "आपके हिन्दू चित्रण के इतिहास में लम्बे-लम्बे अन्तराल हैं । उसने माइकेल एंजेलो, टिटियन अथवा टिण्टोरेट्टो जैसा कोई कलाकार उत्पन्न नहीं किया । वह अमूर्तता अथवा अति यथार्थवाद की प्रधानता वाले आधुनिक चित्रण से भी घटिया है । उस पर 'ओ पी आर्ट' और 'काइनेटिक आर्ट' (गत्यात्मक कला) का प्रभाव है और वह 'भविष्यवाद' की आधुनिक विधा को विकसित करने का प्रयास रहा है । कलात्मक हिन्दू मंदिरों की तुलना प्रसिद्ध यूनानी सर्वदेव मंदिर अथवा इतालवी गिरजे, धर्मपीठ या कैम्पेनाइल मीनार अथवा मध्ययुगीन फ्रांस के गॉथिक धर्मपीठों (Cathedrals) से नहीं की जा सकती । हिन्दू कलाकार विवेकसंगत सौन्दर्य की यूनानी संकल्पना से अनभिज्ञ थे । भारतीय वास्तुकला में सहबद्धता, सुस्पष्टता अथवा शास्त्रीय श्रेष्ठता का नितान्त अभाव है । सब कुछ भारी-भरकम एवं अति अलंकृत है और उसमें लघुत्व (हल्केपन)

एवं सुशांत गरिमा का अभाव है । सब कुछ राक्षसों, राक्षसियों की भारी धमाचौकड़ी एवं विराट् बर्बरता है । शिव का नृत्य मृत्यु अथवा विनाश का नृत्य है । वह आदिमजातीय वेगवान ऊर्जा का अनियंत्रित विस्फोट है । भारतीय रंगमंच सृजनात्मकता तथा कल्पनाशीलता को कोई अवसर प्रदान नहीं करता । हिन्दू मूर्तिकला यूरोपीय अथवा यूनानी मूर्तिकला से घटिया है । वह भद्दी, भ्रामक, अतिशयोक्तिपूर्ण, अनगढ़, विचित्र, बेतुकी है । वह एक ऐसी विकृत कल्पना की उपज है जो अप्रिय यथार्थ के दुःस्वप्न-लोक में भटक रही है । उसमें सहजता का अभाव है ।”

सहानुभूति रखने वाले मानस

उन लोगों के अनुदार कटाक्षों के बारे में हम क्यों चिन्ता करें जो नख से शिख तक विद्वेषी तथा पूर्वाग्रही हैं और हिन्दू से जुड़ी हर वस्तु का अवमूल्यन करने पर तुले हुए हैं? आइए, उन पश्चिमवासियों की चर्चा करें जो हमसे सहानुभूति रखते हैं । वे यह अनुभव करते हैं कि कला के परम्परागत भारतीय सिद्धान्तों तथा परम्परागत पश्चिमी सिद्धान्तों में अन्तर है और किसी कलाकृति का मूल्यांकन करने के लिए आवश्यक है कि एक अच्छा आलोचक कलाकार के पर्यावरण, इतिहास से उसके सम्पर्क तथा दृश्य साधनों एवं उसके निजी चरित्र द्वारा उत्पन्न उसके मानसिक परिवर्तन के बारे में शोध करे ।

इसका कारण यह है कि आलोचक प्राय: हिन्दू मानस की विशिष्ट प्रकृति से अनभिज्ञ होते हैं ।

एकात्म दर्शन

हिन्दू अपने एकात्मपरक चिन्तन तथा विभिन्न विषयों की परस्पर आबद्धता के दृष्टिकोण के लिए विश्वविख्यात रहे हैं । वे इस बारे में जागरूक हैं कि कला को अलग-थलग करके उस पर मनन नहीं किया जा सकता । कला सामान्य जीवन तथा संस्कृति का अभिन्न अंग है । विज्ञान तथा कला को भी पूर्णतया अलग-अलग खानों में नहीं रखा जा सकता । एक अवस्था में विज्ञान का विकास वैसे ही कला का रूप धारण कर लेता है जैसे कि एक अवस्था में कला का विकास विज्ञान का रूप धारण कर लेता है । भौतिकता तथा आध्यात्मिकता को भी पूर्णतया अलग- अलग खानों में नहीं रखा जा सकता ।

आइन्स्टाइन का विचार है कि धर्म के बिना विज्ञान लूला है और विज्ञान के बिना धर्म अन्धा है । अपने विकास की चरम स्थिति में विज्ञान आध्यात्मिकता से एकाकार हो जाता है । जैसा कि डा० फ्रिट्जॉफ काप्रा (Dr. Fritjof Capra) कहते हैं, “ब्रह्मांड का मूलभूत एकत्व न केवल रहस्यवादी अनुभूति का सार तत्त्व है, बल्कि वह आधुनिक भौतिकी का भी एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्यान्वेषण है ।“ ताल्सताय का निष्कर्ष है- “सर्वोच्च विवेक का केवल एक ही विज्ञान है ओर वह है 'संपूर्ण' का विज्ञान, जो न केवल समूची सृष्टि की व्याख्या करे बल्कि बताये कि उसमें मानव का क्या स्थान है । “सनातन धर्म, जिसकी नवीनतम अभिव्यक्ति दीनदयाल जी का एकात्म मानव दर्शन है, इस तथ्य को अनुभव करता है और वह उसका एक मूलमंत्र है । कला को भी अखंड का अभिन्न अंग समझा जाना चाहिए ।

ललित कलाओं के संवर्धन को समर्पित अखिल भारतीय संगठन 'संस्कार भारती' के लक्ष्यों तथ उद्देश्यों का मनन, अध्ययन तथा मूल्यांकन इस पृष्ठभूमि में किया जाना चाहिए ।

“कला अद्वितीय है । वह हमें प्रेरणा देती है और उदात्त बनाती है । अपने प्रयास में कलाकार परमानंद का अनुभव करता है और दर्शक वस्तुत: मंत्रमुग्ध हो जाता है । वह पीड़ित की पीड़ा को हर लेती है और हताश तथा निराश व्यक्ति में उत्साह का संचार करती है । वह मानवमन में प्रतिष्ठित करुणा को प्रस्फुटित करती है ।“

“करुणा तथा संवेदनशीलता मानव को प्रगति की ओर ले जाती हैं और मानवता के लिए दैवी अमृत सिद्ध होती हैं । वस्तुत: परिवार, समाज तथा मानवता केवल करुणा नामक इस एक गुण की ही अभिव्यक्तियाँ हैं । इसके अभाव में न तो मानव की मानवता बचेगी और न बचेगा समाज का अस्तित्व । कला, करुणा तथा मानवता मिलकर हमारे सामाजिक जीवन के पावन त्रिवेणी संगम का निर्माण करती हैं ।“

“करुणा तथा संवेदनशीलता के सहारे मानव संस्कार ग्रहण करता है । संस्कार ही संस्कृति के लक्ष्य तक पहुँचने के लिए प्रकृति के पथ का द्वार है । मानव का इतिहास इसका साक्षी है ।“

'संस्कार भारती' की यह मान्यता उचित ही है कि मोक्ष की शाश्वत खोज में जुटी मानवता के लिए ललित कलाएँ दैवी वरदान हैं । ललित कलाएँ मानव को इस योग्य बनाती हैं कि वह सरस, सुन्दर, उत्थानकारी तथा मनमोहक मनोरंजन के माध्यम से स्वयं को परिमार्जित तथा प्रबुद्ध कर सके । यह 'संस्कार' का एक प्रमुख वाहन है ।

आदिमकालीन कला की उत्पत्ति आदिमकालीन सौन्दर्य-बोध से हुई । समय के साथ-साथ वह उन्नत होती गयी, यथा-शरीर की रंगाई, सौन्दर्य-प्रसाधन, गोदने गोदना, बलिकर्म, बुनाई, वस्त्र-परिधान, आभूषण, मिट्टी के बरतन, सामान्य चित्रण, जादू, लोककथाएं तथा लोकगीत, नीति-कथाएँ, दन्तकथाएँ, प्रतीक कथाएँ, मिथक, आरेखण, लेखन, लिपि, भाषा, विभिन्न प्रकार के आदिम साहित्य, हस्तकला, मूर्तिकला, वास्तुकला, गीत तथा नृत्य, स्वांग, संगीत तथा नाटक, खेल तथा समारोह ।

वैज्ञानिक प्रगति के साथ-साथ प्राचीन कलाओं में नये आयाम जोड़े गये और नयी कलाओं का आविर्भाव हुआ । मानव की प्रत्येक गतिविधि के बारे में ऐसा ही हुआ । अपने पेट की ज्वाला को शांत करने के लिए भोजन की खोज में निकला मानव बढ़ते-बढ़ते कहीं से कहीं पहुँच गया । उसने शिकार किया, मछलियाँ पकड़ीं, पशु-संवर्धन तथा पशु-पालन किया, खेती की, अग्नि की खोज की और वस्तुओं को भूनते-भूनते वह माइक्रोवेव चूल्हे पर अति आधुनिक ढंग से भोजन पकाने लगा । वह कन्दराओं से गगनचुम्बी अट्टालिकाओं तक, वृक्षों की छाल से पोलिएस्टर तक, आदिमकालीन स्वतंत्र प्रेम से मैरीलिन मनरो के रोमांस तक पहुँच गया । स्वाभाविक है कि कलाओं के क्षेत्र पर भी विज्ञान का वैसा ही प्रभाव पड़ा । किन्तु इस तथ्य के रहते भी यह सोचना ठीक नहीं होगा कि कला कोई अलग- थलग वस्तु है और वह ऐसे द्वीप जैसी है जिसका शेष संसार से कोई सम्बन्ध नहीं । मानव मन में जो पदार्थ, घटनाएँ तथा कारक संस्कार डालते हैं, वे अनगिनत हैं । आंतरिक तथा बाह्य जगत् की प्रत्येक वस्तु पर संस्कार प्रभाव डालते हैं और स्वयं भी उनसे प्रभावित होते हैं । मानव मन पर पड़ने वाले प्रभाव की प्रत्येक लहर तथा प्रकृति नदी का हर करतब संस्कारों के निर्माण में सहायक होता है । स्वामी विवेकानंद कहते हैं, “आंतरिक अनुभूति से प्राप्त सत्य को मनोविज्ञान, तत्त्वमीमांसा तथा धर्म कहते हैं और बाह्य अनुभूति से प्राप्त सत्य को भौतिक विज्ञान ।

अब एक सर्वांगपूर्ण सत्य की समरसता दोनों जगतों की अनुभूति से होनी चाहिए ।" कलाओं के माध्यम से संस्कार डालने के लिए उच्चतर से भी उच्चतर स्तरों पर समरसता की खोज करनी होगी । हमारे संस्कारों की वर्तमान स्थिति अतीत और वर्तमान की ऐसी हर वस्तु के संचयी प्रभाव से उपजी है । संस्कारों तथा कलाओं के सही, बोधगम्य तथा वास्तविक समाकलन के लिए इन सभी तत्त्वों को ध्यान में रखना होगा । ऐसे अभ्यास के बिना जो भी दृष्टिकोण अपनाया जायेगा, वह असंतुलित तथा अधूरा होगा ।

घटक तत्त्व

यथा:

भूवैज्ञानिक तथा भौगोलिक परिस्थितियाँ; भू-राजनीतिक तत्त्व ; जलवायु, ॠतु, प्राकृतिक संसाधन, प्राकृतिक उथल-पुथल और आपदाएँ, बाढ़, सूखा, झंझा (तूफान), अकाल, भूकम्प, ॠतु-चक्र, महाद्वीपीय अपसरण, अतिवृष्टि,हिमाच्छादन, ज्वालामुखी, भूवैज्ञानिक विभीषिकाएँ, महामारियाँ तथा पर्यावरणीय तत्त्व ।

उत्पादन तथा विनाश के उपकरण - आदिमकालीन साधनों से आधुनिक प्रौद्योगिकी तक और डंडों तथा पत्थरों से परमाणु-आयुधों तक और व्यक्तिगत, सामाजिक एवं मानवीय मनोविज्ञान तथा उनके पारस्परिक संबंधों पर इन साधनों की प्रकृति तथा स्तरों में समय-समय पर होने वाले परिवर्तनों का प्रभाव ।

उत्पादन, वितरण, विनिमय, खपत तथा वाणिज्यिक आदान-प्रदान के प्रतिरूप । जीवन, मृत्यु, मृत्यु के बाद के जीवन, आत्मा, ईश्वर, अलौकिक, धर्म, नैतिक सिद्धान्तों, तत्त्वमीमांसा, भला-बुरा, उचित-अनुचित, पाप-पुण्य, सामाजिक नियमों, रीति-रिवाजों, शिष्टाचार, वेशभूषा, तीज-त्यौहार एवं पर्व संबंधी संकल्पनाएँ तथा सज्जन मनुष्य का आदर्श ।

भय, आश्चर्य, स्वप्न, तिरस्कार, प्रशंसा, आदर तथा पूजन के पात्र ।

विश्राम, सुख-सुविधा एवं विलास के साधनों, तनावों तथा दबावों, चुनौतियों तथा अवसरों के प्रति दृष्टिकोण ।

सामान्य आस्था-प्रणालियाँ, अंधविश्वास, विश्वास, सहज वृत्तियाँ, भावनाएँ, संवेदनाएँ, सहज ज्ञान ।

सौंदर्य, लोभ, कामुकता, यौन स्वच्छंदता, विभिन्न प्रकार के विवाह-विधान, विवाह-पूर्व के संबंधों, वेश्यावृत्ति, जार कर्म, कौमार्य, सतीत्व, यौन संबंधों में पाखंड, संयम, तलाक, गर्भपात तथा शिशु-हत्या के प्रति पारम्परिक प्रतिक्रिया ।

ऐतिहासिक घटनाओं, ऐतिहासिक व्यक्तित्वों, ऐतिहासिक साहित्य, बदलती हुई अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियों तथा बहुधा सांस्कृतिक समागमों का प्रभाव ।

सभ्यता की स्थिति जिसमें सामाजिक संरचना, आर्थिक एवं राजनीतिक संस्थागत साँचा-ढाँचा, नैतिक मूल्य-पद्धति, ज्ञान की मात्रा, सांस्कृतिक स्तर, लोक- विचार-पद्धतियाँ तथा देश, काल और ब्रह्मांड संबंधी मान्य संकल्पनाएँ सम्मिलित हैं ।

हो सकता है कि पश्चिम के जनसाधारण की समझ में यह बात न आये, लेकिन समेकित चिन्तन-मनन से यह पता चल जायेगा कि किस प्रकार ये सभी तत्त्व अलग-अलग मात्रा में प्रकृति से तथा कला के विकास अथवा ह्रास से प्रभावित होते हैं और उन्हें प्रभावित करते हैं ।

*****

भाग दो

दृष्टिकोण

दृष्टिकोण

भौगोलिक परिस्थितियाँ

'कैरेक्टर एंड क्लाइमेट' (Character and Climate) में हण्टिंग्टन (Ellsworth Huntington) ने बड़े ही सुन्दर ढंग से निरूपण किया है कि किस प्रकार जलवायु तथा भूगोल की परिस्थितियाँ लोगों के चरित्र को प्रभावित करती हैं । यथा, वह कहते हैं कि अपेक्षाकृत बंजर पहाड़ी क्षेत्रों की शुष्क तथा शीतल जलवायु दृढ़ प्रवृत्तियों को पनपायेगी और उपजाऊ मैदानी क्षेत्रों की आर्द्रोष्ण (गर्म और नम) जलवायु लोगों को कम परिश्रमी तथा अधिक विश्रामप्रेमी बनायेगी । गुणात्मक दृष्टि से भूमध्यसागर की जलवायु का प्रभाव उत्तर की जलवायु के प्रभाव से भिन्न होगा । मोटे तौर पर लोग अन्तर्मुखी हैं या बहिर्मुखी, इस तथ्य से जलवायु की परिस्थितियों का कुछ न कुछ तो सम्बन्ध है ही । हाल ही में एक स्तंभ-लेखक ने बड़े ही मजाकिया ढंग से कहा है कि भले ही पश्चिमी ढंग के प्रणय-निवेदन में कोई प्रेमी अपनी प्रेमिका को रिझाने के लिए शेक्सपियर की इस उक्ति का सहारा ले ले और कहे, “क्या मैं तेरी तुलना ग्रीष्म ऋतु के दिन से करूँ?” पर भारतीय पर्यावरण में ये शब्द प्रेमिका के मन में एक भिन्न धारणा, एक भिन्न मानसिक प्रतिक्रिया उत्पन्न कर सकते हैं । इसका अर्थ होगा कि भावुक प्रेमी इस बात की अनुमति माँग रहा है कि वह अपने सच्चे प्रेम की तुलना असह्य गर्मी, अत्यधिक नमी, जलाभाव, पसीने से भीगे कपड़ों, निर्जलीकरण, क्रुद्ध मुद्रा, पसीने वाली बगलों, धुंधले चश्मे और सूखे गले से कर सके । यही उक्त वाक्य से मन में कौंधने वाली केवल कुछ छवियाँ हैं ।

क्या यह बोधगम्य नहीं है कि मरुस्थल के जिन क्षेत्रों में कृषि का विकास नहीं हुआ है, वहाँ की घुमन्तु जातियों के लोग व्यक्तिवादी नहीं हो सकते । उनका तो अस्तित्व ही इस बात पर निर्भर है कि वे समूह बनाकर रहें, गतिशील हों, अनुशासन में रहें और एक ही नेता के प्रति निष्ठा रखें । एक स्थान पर बसे कृषिजीवी समुदायों के लोग इन वृतियों को अपनाने के लिए बाध्य नहीं हैं । उनकी उत्पादन-प्रक्रिया व्यक्तिवाद के अनुकूल और

सामाजिक एकजुटता में ह्रास लाने वाली है जिसकी भरपायी सशक्त सांस्कृतिक गतिविधियों से करनी होगी ।

यूरेशिया के विशाल क्षेत्रों पर बहुधा बर्बरतापूर्ण आक्रमण होते रहे हैं । जो क्षेत्र निरन्तर युद्धरत समूहों के अखाड़े बने रहते हैं, उनसे यह आशा नहीं की जा सकती कि वहाँ कला तथा संस्कृति और बौद्धिक तथा आध्यात्मिक प्रवृतियों का क्रमबद्ध विकास होगा ।

निश्चय ही इटलीवासियों का सामान्य मनोविज्ञान उन जर्मनीवासियों से भिन्न होगा जिनका स्वदेश "खुले मैदान में शिविर" जैसा है ।

इस्राइल और स्विट्जरलैंड का एक सा मनोविज्ञान नहीं हो सकता । लहरों पर अपना झंडा फहराने वाली प्रमुख नौशक्ति बनने के ब्रिटेन के उद्यम में उसकी विशिष्ट एकाकी भौगोलिक स्थिति ने महान् योगदान किया ।

क्या भूगोल ने रूस की सहायता नहीं की? क्या रूस के विशाल भीतरी प्रदेश तथा 'मार्शल विंटर' (हेमन्त ऋतु) ने नेपोलियन को नहीं हराया और हिटलर की सेनाओं का मार्ग अवरुद्ध नहीं कर दिया?

क्या कोई इस बात की कल्पना भी कर सकता है कि यदि सर्वशक्तिमान विधाता ने संयुक्त राज्य अमेरिका को पोलैंड की सी दुर्भाग्यपूर्ण भौगोलिक स्थिति में रखा होता तो फिर भी वहाँ के लोग भौतिक समृद्धि की दिशा में अनवरत बढ़ते चले जाते? उनकी वर्तमान विपुल समृद्धि का आंशिक श्रेय शेष जगत् और उनके बीच पसरे अटलांटिक महासागर को मिलना ही चाहिए ।

भूराजनीति शास्त्र ने इस शती के प्रथम दशक में पूर्णतया गलत भविष्यवाणी नहीं की थी कि ब्रिटेन की केन्द्रीय स्थिति तब तक बनी रहेगी जब तक कि पृथ्वी के कुछ या कोई भाग खोजे जाने के लिए शेष रहेंगे, और जब सारा संसार एक पूर्ण-परिपथ में सिमटा निकाय हो जायेगा तथा उसमें आगे कुछ खोजने की आवश्यकता नहीं रह जायेगी तो यह नन्हा सा द्वीप अपनी वैभवपूर्ण स्थिति को गँवा देगा और विश्व-केन्द्र वहाँ से हटकर पहले तो अफ्रीका तथा यूरेशिया वाले 'गृह द्वीप' में और फिर बाद में उस 'गृह द्वीप' के पश्च भाग में चला जायेगा जो हिमालय से उतर-ध्रुव तक फैला हुआ है ।

एशिया में भारत की जो भौगोलिक स्थिति है, अधिकांशत: वैसी ही स्थिति यूरोप में इटली की है ।

भूगोल और कला

भूगोल ओर कला का आपसी संबंध हमारे देश में लगभग अनदेखा सा ही रह गया है । सिस्टर वायोलिटा ए.सी. (Sister Violita A.C.) ने 'रीसेण्ट ट्रेण्ड्स एंड कन्सेप्ट्स इन ज्योग्राफी' (Recent trends and concept in geography) में एक लेख में स्पष्ट किया है कि किस प्रकार भूगोल ने भारतीय संगीत पर प्रभाव डाला है ।

भारत का संगीत अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग प्रकार का है, किन्तु मोटे रूप से उसे दो विभागों में वर्गीकृत कर सकते हैं-उत्तर का हिन्दुस्तानी संगीत और दक्षिण का कर्नाटक संगीत । उत्तर को अनेक आक्रमण झेलने पड़े, अत: उसने योद्धा जातियों को जन्म दिया । दक्षिण में जीवन अधिक शांतिपूर्ण था और लोगों के पास खेतीबाड़ी के लिए समय था । उन्हें विदेशियों से मिलने-जुलने के अधिक अवसर नहीं मिले । अत: वे रूढ़िवादी और अलग-थलग रहे । इसकी झलक उनके संगीत में मिलती है जो रूढ़िवादी तथा शास्त्रीय बना रहा है ।

भारतीय संगीत के साथ प्रकृति का बड़ा गहरा नाता है । भारतीय संगीत में अलग-अलग ऋतुओं और दिवस के अलग-अलग प्रहरों तथा प्रकृति के पंचतत्त्वों के लिए अलग-अलग 'राग' हैं । कतिपय 'राग' बसन्त की छवि प्रस्तुत करते हैं । 'राग मल्हार' सुदूर आकाश में विद्युत्-गर्जन की प्रतिध्वनियाँ तथा वर्षा की बूंदों की पड़पड़ाहट को हमारे मानस-पटल पर अंकित करता है । वह हमारे सामने माटी की भीनी-भीनी गंध को, वनस्पति की हरियाली को और मोर के शोर तथा कोयल की कूक को साकार करता है । अनेक 'राग' वर्षा ऋतु के सुर में सुर मिलाते हैं । उन्हें सुनकर लगता है जैसे आकाश में मेघ उमड़-घुमड़ रहे हैं और मूसलधार वर्षा हो रही है । 'राग भटियाली' बंगाल की नदियों के स्थिर प्रवाह की झलक देता है । उसे सुनकर लगता है जैसे संध्या के झुटपुटे में घर लौटते थके-हारे मछेरे वेदना के स्वर में गा रहे हों ।

मारवाड़ प्रदेश की चट्टानों तथा रेतीले परिवेश के ऊबड़-खाबड़पन और शुष्कता को 'राग मांड' में संजोया और पिरोया गया है । पर्वतों की ढलानों पर जब जल, गोल पत्थरों और कंकरों के साथ वेग से नीचे गिरता है तो उसके प्रवाह की ध्वनि को तथा पर्वतों और घाटियों की प्रतिध्यनियों को 'राग पहाड़ी' मुखर करता है । विषाद और अवसाद के 'राग भैरव' को भोर के शांत वातावरण में गाया जाता है।

प्रारंभिक पंजाबी लोक-संगीत की तुलना जीवन तथा आनंद से भरपूर तीव्रता से कल-कल, छल-छल बहती पर्वत-सरिता के साथ की जा सकती है । कालान्तर में यह लोक-संगीत भी लोक-कथाओं के कल्पित प्रेमियों तथा नायकों की विरहपूर्ण करुण कथाओं के कथन का माध्यम बन गया । उसकी तुलना स्वयं पंजाब में ही बहने वाली चिनाब जैसी गहरी, स्थिर, भव्य तथा मन्द गति नदी से की जा सकती है । पंजाबी लोक-संगीत कुछ-कुछ पश्चिम एशिया के कतिपय देशों के संगीत से मिलता-जुलता है । पंजाब इन देशों के निकट है और उस पर इन देशों के लोगों ने बार-बार आक्रमण किये । पंजाब के लोग सुख-दु:ख के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं और उसकी झलक उनके गीत और संगीत में भी पायी जाती है ।

बिहार में वर्षा ऋतु के श्रावण मास में जब लोग दिन-रात खेतों में जुटे रहते हैं, तो वे वहाँ 'बरसाती' नामक गीतों की वर्षा करते हैं ।

जब हम बंगला लोकगीत सुनते हैं तो हमारे सामने बंगालियों के दिन-प्रतिदिन के ठेठ सामान्य ग्रामीण जीवन का चित्र खड़ा हो जाता है । इस संगीत की विविधता का कारण जीवन की बदलती हुई मनोदशाएं हैं जिनसे मेल बैठाते हुए संगीत की रचना की जाती है । अलग-अलग जिलों का अलग-अलग संगीत है और वे प्रदेश की विविध भौतिक विशिष्टताओं के अनुरूप हैं । इन गीतों में बंगाल के चौड़े खेतों तथा नदियों का वर्णन है । उनमें ऋतुओं की बहार और उदासी का चित्रण है । वे लोगों की आशाओं, स्वप्नों तथा कुंठाओं को, उनके सुख-दुःख तथा फसलों के पर्वों और तीज-त्यौहारों के उल्हास को व्यक्त करते हैं ।

पर्यावरण के अनुसार संगीत की गति भी बदलती जाती है । गर्म जलवायु में संगीत मंद ताल में चलता है । वह अधिक विस्तार वाला और अधिक जटिल होता है । ठंडी जलवायु में वह द्रुत ताल में और उच्च स्वर में गाया जाता है ।

विचार-प्रणालियाँ

धर्म-विषयक मत-सम्प्रदायों (Religions), विचारधाराओं, विचार-प्रणालियों (Thought Systems) की अपनी अलग भूमिका होती है ।

यहाँ "विचार प्रणाली" शब्द का प्रयोग जानबूझकर किया गया है ।

विचारधारा (Ideology) शब्द समय-समय पर अपना अर्थ बदलता रहा है । आज उसका प्रयोग उस अर्थ में नहीं किया जा रहा है जिस अर्थ में उसका प्रयोग पहले-पहल नैपोलियन के काल में किया गया था ।

'रिलीजन' शब्द ने स्पष्टता से कहीं अधिक संभ्रम पैदा किया है । जैसा कि पंडित जवाहरलाल नेहरू ने कहा है, "किसी भी भाषा के किसी भी शब्द की तुलना में 'रिलीजन' शब्द की व्याख्या में विभिन्नता की कहीं अधिक संभावना है । इस शब्द की अलग-अलग लोगों ने अलग-अलग ढंग से व्याख्या की है, इस शब्द को पढ़ने या सुनने पर संभवत: किन्हीं भी दो व्यक्तियों के मन में विचारों और छवियों की एक सी संरचना उत्पन्न नहीं होगी । 'रिलीजन' शब्द ने अपना संपूर्ण सही महत्त्व गँवा दिया है (यदि कभी कोई था) और वह केवल भ्रम पैदा करता है तथा कभी भी समाप्त न होने वाले वाद-विवाद एवं तर्क-वितर्क को जन्म देता है जब बहुधा नितान्त भिन्न अर्थ उसके साथ जोड़े जाते हैं । इससे कहीं अच्छा तो यह होगा कि उसका प्रयोग ही समाप्त कर दिया जाये और उसके स्थान पर अधिक सीमित अर्थ वाले अन्य शब्दों का प्रयोग किया जाये यथा ईश्वर-मीमांसा, दर्शन, नैतिक सिद्धांत, आचार-शास्त्र, अध्यात्म, तत्त्वमीमांसा, कर्तव्य, विधि-विधान आदि ।"

इसमें संदेह नहीं कि 'फिलॉसफी' (दर्शन) शब्द का एक निश्चित अर्थ था अर्थात् प्रज्ञा एवं ज्ञान की पिपासा, सत् के रूप में अस्तित्व का विज्ञान, पदार्थों के कारणों तथा नियमों का ज्ञान, ज्ञान की किसी भी शाखा में निहित सिद्धान्त । किन्तु आज वह अत्यधिक

चलन से घिसे सिक्के जैसा हो गया है और उसने अपनी निश्चितता तथा पैनापन गँवा दिया है । इसी कारण 'विचार-प्रणालियाँ' शब्द का सूत्रपात उचित लगता है ।

जो भी हो, अपने मुख्य मुद्दे को स्पष्ट करने के लिए हम सहज ही उन मुद्दों की अवहेलना कर सकते हैं जो अतीत के अंग बन गये हैं ओर आज की दुनियां में उनका कोई वारिस नहीं है ।

यहूदी मत

हेब्रू राष्ट्र के जनकों तथा संस्थापकों अब्राहम, इसाक तथा जैकब के पास कलाओं के लिए न तो अवकाश था और न ही कोई सुविधा । मूसा ने भी उन्हीं का अनुसरण किया । मूसा की संहिता के आधार पर ही बाद के यहूदी जीवन का ढाँचा खड़ा किया गया, परन्तु उसने अपने द्वितीय 'धर्मादेश' के माध्यम से ईश्वर की जो राष्ट्रीय संकल्पना खड़ी की, उसमें कला की उपेक्षा की गयी । उसके अनुसार ईश्वर की कोई उत्कीर्ण छवियाँ नहीं गढ़ी जा सकती थी अर्थात् ईश्वर को रूप तथा आकार से परे होना ही चाहिए । आदेश ने सम्प्रदाय के प्रति हेब्रू निष्ठा को अनिवार्य ठहराया और उन पुराने दिनों में विज्ञान तथा कला के लिए कोई स्थान नहीं छोड़ा । गणित ज्योतिष की उपेक्षा की गयी । नये मंदिर में किसी भी प्रकार की कोई मूर्ति नहीं थी । पुरानी मूर्तियों को बेबीलोन भेज दिया गया । बेबीलोनिया की दासता के बाद हमें किसी मूर्ति, चित्र अथवा पच्चीकारी का चिह्न नहीं मिलता । पुजारी केवल नगण्य वास्तुकला तथा संगीत की अनुमति देते थे । पूर्व-विधान (Old Testament) की समस्त पुस्तकें उन यहूदियों की पावन साहित्यिक सम्पत्ति थीं जिन्हें, कुछ बचेखुचे सामान्य व्यक्तियों के अतिरिक्त, ईसा-पूर्व 587 में चाल्डियन नेबुचडनेज़ार द्वितीय (Nebuchadnezzar 2nd) ने उनके स्वदेश से बेबीलोनिया में निर्वासित कर दिया था । बाद में वे अपने येरुशलम के नगरों में लौट आये और उन्होंने अपने मन्दिर का पुनर्निर्माण किया । राजा सोलोमन (King Solomon) (160 ई० पूर्व) ने सम्प्रदाय को नवरूप तथा नवजीवन प्रदान किया जिसके जातीय तथा मानसिक रूप से संभ्रमित हेब्रू लोगों पर क्षीण नियंत्रण के कारण समस्याएं खड़ी हो रही थी ।

राजा सोलोमन के शासन के साथ ही हेब्रू लोगों का अल्पकालीन वैभव समाप्त हो जाता है । कालान्तर में यह पुजारी-प्रधान मंदिर वाला सम्प्रदाय पैगम्बरी सम्प्रदाय हो गया । शनै: शनै: यहूदी यह विश्वास करने लगे कि केवल यहोवा ही सच्चा ईश्वर है, समूचे भूमंडल में एकमेव उनकी जाति ही ईश्वर की चहेती जाति है और यहोवा के चिर-स्थगित वचन को पूरा करने के लिए एक मसीहा आयेगा । 'किसी भी अन्य देवता को सहन न करने वाले' एकमेव और 'ईर्ष्यालु' प्रभु की संकल्पना तथा वचन और दैवी नेतृत्व की अवधारणा ने यहूदी सम्प्रदाय को (असहिष्णुता का) ऐसा स्वभाव प्रदान किया जिसका प्रदर्शन कोई भी अन्य समसामयिक सम्प्रदाय न कर सका । बौद्ध मत, कन्फ्यूशियसवाद, लाओत्सेवाद अथवा ताओवाद में न तो ऐसी कठोरता थी और न ही असहिष्णुता का प्रबल आवेग ।

इस दृढ़ धारणा में से ही यहूदियों के मानसिक साँचे का जन्म हुआ । उसने उन्हें सदियों के विश्वव्यापी उत्पीड़न के झंझावात में भी जीवित रखा । किन्तु यद्यपि सदियों तक समूचे भूमंडल पर बिखरी उनकी प्रतिभा ने विभिन्न संस्कृतियों में सारवान योगदान किया, उनकी सृजनात्मकता का सदुपयोग उस लम्बी अवधि में उनकी अपनी जन्मभूमि के सांस्कृतिक पुनर्जागरण के लिए नहीं किया जा सका । उनके इस परम्परागत मानसिक साँचे का प्रभाव इस्राइल के जन्म के पश्चात् राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के भगीरथ-प्रयास तथा अरब जगत् के प्रति उनके विकट प्रतिरोध में देखा जा सकता है । आज इस्राइल को तत्काल आवश्यकता स्पार्टा की युयुत्सु- वृत्ति की है, फ्लोरेंस के लोकप्रसिद्ध सौन्दर्यबोध की नहीं ।

इस्लाम

लगता है कि राष्ट्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीय जीवन के विभिन्न पक्षों पर पड़ने वाले इस्लाम के प्रभाव को वस्तुपरक दृष्टि से आँकने और मापने का कोई विशद प्रयास अभी तक नहीं किया गया है, यद्यपि विश्व के बाजारों में इस्लाम संबंधी साहित्य की बाढ़ आ रही है । 'सम्प्रदाय-निरपेक्षता और इस्लाम' विषय पर कोई प्रामाणिक पुस्तक उपलब्ध नहीं है । उन विनिबंधों को जैसे कि एस०एन० राय ने रचे हैं, अपवाद माना जाता है । इस्लाम से संबंधित विभिन्न शब्दों का प्रयोग असंगत ढंग से किया जा रहा है और उससे विचार-

विभ्रम उत्पन्न हो रहा है । कलाओं के क्षेत्र में ऐसा विशेष रूप से हो रहा है यथा : 'इस्लामी कला', 'मुस्लिम', 'हिदू-मुस्लिम', 'मूरी' (Moorish) अथवा 'हिदू-अरबी' वास्तुकला, मुगल कला, अफगान शैली की वास्तुकला, फारसी कला आदि । इस क्षेत्र में भी कला का क ख ग भी न जानने वाले राजनीतिक नेता 'अपने दलगत स्वार्थों को साधने के लिए सत्यानाश कर रहे हैं । इस तथ्य को भुला दिया जा रहा है कि इस्लाम को अपना मज़हब घोषित करने वाले हर राष्ट्र, जाति या कबीले की अपनी अलग विशिष्टताओं वाली संस्कृति है । मानवेन्द्रनाथ राय के ध्यान में यह तथ्य था जब उन्होंने कहा था कि खैबर के मार्ग से जो आक्रमण किये गये, वे वास्तव में विभिन्न कबीलों यथा अरबों, मुगलों आदि के थे, इस्लाम के नहीं । उनके अनुसार ऐसे आक्रमणों तथा बाद की शासन-प्रणालियों का स्वरूप आक्रमणकारी कबीलों की अलग-अलग विशेषताओं के अनुरूप अलग-अलग था । पुनश्च फारस की अथवा मिस्र के पिरामिडों की अनोखी वास्तुकला-शैली तो इस्लाम-पूर्व की थी । हमारे देश में अफगान शासकों ने वास्तुकला-संबंधी अपने प्रयोजनों के लिए हिन्दू कारीगरों का उपयोग किया, हिन्दू विषय-वस्तु का अनुकरण किया और यहाँ तक कि हिन्दू मंदिरों के स्तम्भों को भी अपना लिया । उनकी अनेक मस्जिदें मात्र ऐसे हिन्दू मन्दिर थे जिनका मुस्लिम नमाज के लिए पुनर्निर्माण कर लिया गया था । फतेहपुर सीकरी, दिल्ली तथा आगरा की वास्तुकला-शैली को मुगल शैली कहा जाता है । आज संगीत को समर्पित अध्यवसायी मुस्लिम कलाकार बड़ी ही उत्तम रीति से संगीत की देशी शैलियों की साधना तथा उनका संवर्धन कर रहे हैं और उन सभी का देशी कला के 'साधकों' के रूप में सम्मान किया जाता है । तानसेन भी ऐसे ही साधक थे । अकबर के शासनकाल में जो सत्रह कलाकार चोटी के माने जाते थे, उनमें से तेरह हिन्दू थे । ताजमहल, कुतुब मीनार, तथा अन्य कृतियों के बारे में पी०एन० ओक के दावों को चुनोती देने के लिए कोई भी प्रख्यात विद्वान् आगे नहीं आया है । किन्तु माना यह जाता है कि ताजमहल के आकल्पन (Design) के लिए शाहजहाँ ने तीन विदेशी कलाकारों का सदुपयोग किया जिनमें से एक गीरोनिमो वेरोनियो नामक इतालवी था, दूसरा उस्ताद इसा नामक फारसवासी था और तीसरा आस्तिन दे बोर्दियो नामक फ्रांसीसी था । लार्ड विलियम बेंटिक का एक बार यह विचार था कि ताजमहल एक हिन्दू ठेकेदार को १, ५०, ००० पौंड में बेच दिया जाये ।

सम्प्रदाय के रूप में इस्लाम ने अपनी छत्रछाया में रहने वाले लोगों के स्वभाव पर प्रभाव डाला है । किन्तु उन लोगों की मूल संस्कृतियों ने भी इस्लाम के स्थानीय तथा सामान्य स्वभाव तक पर प्रभाव डाला है । इस समूचे असाधारण पक्ष का विवेचनात्मक विश्लेषण करने के लिए एक और रॉय को जन्म लेना होगा । फिर भी तथ्य यह है कि इस्लाम का स्वभाव ललित कलाओं के संवर्धन के अनुकूल नहीं है । जूडिया (न्यू टेस्टामेंट में सम्मिलित पुस्तक) में मूसा के निषेध की भाँति इस्लामी निषेध ने भी इस्लामी दुनियाँ में कलाओं की प्रगति को अवरुद्ध किया । हाल ही में दूरदर्शन पर रामायण तथा महाभारत धारावाहिक प्रस्तुत किये गये ।

क्या पैगम्बर हजरत मुहम्मद के जीवन पर भी ऐसे ही धारावाहिक प्रस्तुत किया जा सकता है? जो भी इस दुष्कर कार्य को हाथ में लेगा, उसे 'रेगिस्तान के स्वामी' की उपस्थिति को अनिवार्यत: संकेत अथवा प्रतीक के रूप में दिखाना होगा और वह होगा उनके ऊँट का पिछला भाग और उसकी पूँछ, क्योंकि 'हजरत पैगम्बर' को पर्दे पर नहीं दिखाया जा सकता । वह इस्लाम के सिद्धान्तों के प्रतिकूल होगा ।

यह एक मान्य तथ्य है कि औरंगजेब तथा उसके पूर्ववर्तियों के मनों पर इस्लाम का प्रभाव एक सा नहीं था । ओरंगजेब के बारे में विल डूरैंट (Will Durant) ने कहा है : “निरख-परख के बावजूद औरंगजेब मुगल तथा भारतीय कला के लिए अभिशाप था । एक ही मजहब के अंधभक्त (कठमुल्ला) के रूप में उसे कला में मूर्तिपूजा तथा असारता के अतिरिक्त कुछ नहीं दिखाई देता था.... भारतीय कला ने कब्र तक उसका पीछा किया ।“

तथाकथित 'हिदू-मुस्लिम वास्तुकला' के बारे में श्री अरविंद का विचार है : “उसके रूप-स्वरूप की विशुद्ध स्वदेशी उत्पत्ति के दावे के समर्थन से मेरा कोई लेना-देना नहीं है । मुझे ऐसा लगता है कि यहाँ भारतीय मानस ने अरब तथा फारस की कल्पना से बहुत कुछ ग्रहण किया है और कुछ मस्जिदों तथा मकबरों में मुझे अफगानों तथा मुगलों के बलिष्ठ ओर साहसी स्वभाव की छाप दीख पड़ी, किन्तु फिर भी यह पर्याप्त रूप से स्पष्ट है कि समग्रत: वह अनोखी भारतीय प्रतिभा से मंडित ठेठ भारतीय सृजन है... उसका सौन्दर्य जो भी हो, कलात्मक सृजन सम्पूर्णत: दोयम स्तर का है और उसकी तुलना प्रस्तर में प्रतिष्ठित हिन्दू निर्माताओं की महान् आध्यात्मिक आकांक्षाओं से नहीं की जा

सकती । पुनश्च, "यहाँ वास्तव में पूर्ववर्ती भारतीय मानस का विराट् आध्यात्मिक स्वरूप अनुपस्थित है, परन्तु फिर भी वह एक भारतीय मानस है जिसने इन नाजुक कृतियों में पश्चिम एशिया के प्रभाव को आत्मसात् कर लिया है ।"

वास्तुकला संबंधी अपने अध्याय का समापन करते हुए विल डूरैंट ने कहा है, "अत: इस संक्षिप्त से सर्वेक्षण का समापन भी समारंभ जैसा होना चाहिए । मैं यह स्वीकार करता हूँ कि बस केवल एक हिन्दू ही पूर्णत: भारतीय कला का मूल्यांकन कर सकता है अथवा क्षम्य रीति से उसके बारे में लिख सकता है ।"

कम्यूनिज्म

नवीनतम सेमिटिक सम्प्रदाय कम्युनिज्म ने अपनी विचारधारा के अनुसार एक नवीन 'सर्वहारा संस्कृति' के निर्माण का सपना देखा । 'सर्वहारा संस्कृति' के समर्थकों ने अतीत की राष्ट्रीय लोकतांत्रिक परम्पराओं को नकारा और नाशवाद (Nihilism) तथा कला संबंधी घोर आतंकवाद (Formalism) का प्रचार-प्रसार किया । लेनिन अंशत: इस दृष्टिकोण से सहमत थे । उनका आग्रह था कि "सामान्यत: राजनीतिक शिक्षा के क्षेत्र में और विशेषत: कला के क्षेत्र में समूचे कार्यकलाप में वर्ग-संघर्ष की भावना होनी चाहिए... ।"समस्त विज्ञानों की भाँति समस्त कलाओं से भी यह अपेक्षा की गयी कि वे तानाशाही के ध्येय को पल्लवित करें । लेनिन के कार्यक्रम में कहा गया कि "श्रमजीवी वर्ग को इस योग्य बनाया जायेगा कि वह उस सपूर्ण कला-निधि का आनंद ले सके जिसका सृजन उसके श्रम का शोषण करके किया गया, किन्तु अभी तक जिसका आनंद केवल शोषक वर्ग लेता रहा ।" "श्रमजीवी वर्ग के सशक्त तथा अक्षय क्षमता-भंडार की अभिवृद्धि के लिए एक दृढ़ आधार खड़ा करना" आवश्यक था ।

लेनिन समाजवादी उद्योगीकरण, कृषि-सहकारिता तथा सांस्कृतिक क्रांति को समाजवादी निर्माण के तीन प्रमुख परस्पर सम्बद्ध अंग मानते थे । उनकी दृष्टि में संस्कृति देश-काल से परे कोई अलग-थलग वस्तु नहीं थी । उन्होंने उसे जीवन के समस्त पक्षों से जुड़ा देखा । सांस्कृतिक क्रांति राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक विकास में सहायक थी । सांस्कृतिक क्रांति लाना राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने से अधिक दुष्कर कार्य था ।

लेनिन को पता था कि कम्युनिस्ट राज्य की राजनीतिक शिक्षा-पद्धति को सुदृढ़ करने के लिए "शिक्षकों को बुर्जुआ वर्ग से परम्परा में मिले समस्त ज्ञान के योगफल को अर्जित करना" आवश्यक था ।

लेनिन ने लिखा है, "मार्क्सवाद ने क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग की विचारधारा के रूप में अपना ऐतिहासिक महत्व इस कारण प्राप्त किया है कि बुर्जुआ काल की सर्वाधिक मूल्यवान उपलब्धियों को अस्वीकार करना तो दूर की बात है, इसके विपरीत उसने मानव चिन्तन-मनन तथा संस्कृति के विकास के दो हजार से भी अधिक वर्षों की प्रत्येक मूल्यवान वस्तु को आत्मसात् करके उसे पुन: नया रूप दिया है ।" पुनश्च, "हमें उसका (अर्थात् सांस्कृतिक कायाकल्प की प्रक्रिया का) समाजवादी निर्माण की किसी अन्य समस्या की भाँति ही गहन तथा विशद विश्लेषण करना चाहिए और ऐसा करते समय मानव समाज, देश तथा हर प्रदेश की स्थानीय विशेषताओं के विकास का नियमन करनेवाले सामान्य नियमों का समुचित ध्यान रखना चाहिए ।" सांस्कृतिक क्रांति की कालावधि में क्रांति-पूर्व सांस्कृतिक संस्थानों का कुछ पुनर्गठन करके उनका सदुपयोग किया जा सकता है । इनमें अन्य बातों के अतिरिक्त रंगमंच, चित्रकारी और संगीत-संस्कृति का रूपान्तरण एवं विकास तथा नव-साहित्य का सृजन भी सम्मिलित है ।

यथा, उजबेकिस्तान के मध्य एशियाई गणराज्य में यह प्रयास किया गया कि उसके लोगों की उपयुक्त सांस्कृतिक परम्पराओं का पुनरूत्थान किया जाये और उनका सम्पर्क अनेक शतियों की साहित्य, विज्ञान तथा कला संबंधी उपलब्धियों से कराया जाये । इनमें सुविख्यात गणितज्ञ तथा खगोलविज्ञानी मिर्जो, उलुगबेक, सर्वज्ञानसम्पन्न सिना, मुहम्मद इब्न-मुसा खोरेज्मी, महान् उजबेक कवि तथा चिन्तक अलीशेर नवोई तथा विज्ञान और संस्कृति के उत्थान में महत्त्वपूर्ण योगदान करने वाली अन्य प्रतिभाओं की कृतियाँ सम्मिलित थीं ।

लेनिन का विचार था कि एकीकृत समाजवादी संस्कृति के विकास के साथ- साथ सांस्कृतिक क्रांति को हर राष्ट्रीयता की सर्वोत्तम राष्ट्रीय विशिष्टताओं को आगे बढ़ाना और मुखरित करना चाहिए ।

किन्तु लेनिन के उत्तराधिकारी ने उनकी नीति की अवहेलना की, भले ही १९३६ के सोवियत संविधान में १९३० के दशक के पूर्वार्ध में देश के सफल उद्योगीकरण, कृषि के सामूहिकीकरण और सांस्कृतिक क्रांति की उपलब्धियों का उल्लेख किया गया। स्तालिन ने सोवियत संघ की सभी राष्ट्रीय संस्कृतियों के रूसीकरण का भी प्रयास किया। इसका अर्थ था कि रूसियों की संस्कृति का प्रसार हो और रूसी भाषा का अध्ययन किया जाये। फलितार्थ यह निकला कि विभिन्न राष्ट्रीय संस्कृतियों की सभी विशिष्टताओं को घिसीपिटी और कालबाह्य घोषित कर कूड़ेदान में फेंक दिया गया तथा शिक्षा-प्रणाली पर कठोर अनुशासन का अंकुश लगा दिया गया। सभी राष्ट्रीयताओं के प्रतिभावान लेखकों, कवियों, नाटककारों, कलाकारों, संगीतज्ञों, अभिनेताओं के अतिरिक्त अभियन्ताओं (engineers), कृषिशास्त्रियों, डाक्टरों, शिक्षकों तथा वैज्ञानिकों को भी रूसीकरण के कठोर शिकंजे में जकड़ दिया गया। संस्कृति से यह अपेक्षा नहीं की गयी कि वह लोगों की विभिन्न श्रेणियों की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई आवश्यकताओं को पूरा करे, लोगों की स्वतंत्र कलात्मक लगन-जतन को प्रोत्साहन दे और उनकी विशिष्ट प्रतिभाओं तथा सौन्दर्य-रुचियों के लिए पर्याप्त अवसर जुटाये। 'अन्तरराष्ट्रीय समाजवादी संस्कृति' की आड़ में सभी गैर-रूसी लोगों पर रूसी संस्कृति थोप दी गयी।

किन्तु इस बात की ओर ध्यान दिया जाना चाहिए कि एम० गोर्बाचोव (M.Garbachev) ने इस संबंध मे सोवियत संघ के सपूर्ण चिन्तन तथा नीतियों में क्रान्तिकारी परिवर्तन का सूत्रपात किया। अक्तूबर क्रांति की ७०वीं वर्षगाँठ पर सोवियत संघ कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति, सोवियत संघ तथा रूसी समाजवादी गणराज्य (आर एस एफ एस आर) की सर्वोच्च सोवियत के संयुक्त समारोह सम्मेलन में उन्होंने कहा था: "विद्वानों, वैज्ञानिकों, आविष्कारकों, लेखकों, पत्रकारों, कलाकारों, अभिनेताओं तथा शिक्षकों को - उन सभी को जो संस्कृति तथा शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों में काम करते हैं-पुनर्गठन (Perestroika) का प्रबल समर्थक होना ही चाहिए।" इस अवसर पर उस मानपत्र का उद्धरण असंगत नहीं होगा जो 845 ई०पू० में शाओ के ड्यूक ने राजा लि-वांग को दिया था :

"एक सम्राट् को ज्ञात होता है कि वह उस अवस्था में किस प्रकार राजकाज चलाये जब किसी प्रकार का कोई अंकुश या भय नहीं होता और मुक्तभाव से कवि छंद-रचना कर

सकते हैं, लोग नाटक खेल सकते हैं, इतिहासकार सत्य को प्रस्तुत कर सकते हैं, मंत्री परामर्श दे सकते हैं, निर्धन करों पर रोष प्रकट कर सकते हैं, छात्र उच्च स्वर से पाठ याद कर सकते हैं, कारीगर अपने कौशल की सराहना कर सकते हैं और आजीविका खोज सकते हैं, लोग किसी भी बात के बारे में मुँह खोल सकते हैं और वृद्धजन किसी भी बात में या वस्तु में दोष निकाल सकते हैं ।“

'ईसाई' अथवा 'यूरोपीय'

यह रूढ़िसंगत है पर तर्कसंगत नहीं कि यूरोपीय संस्कृति, यूरोपीय कला और यूरोपीय विज्ञान को 'ईसाई' संस्कृति, 'ईसाई' कला और 'ईसाई' विज्ञान का पर्याय मान लिया जाये । जन-साधारण के लिए दोनों में कोई विभेद करने की कोई व्यावहारिक आवश्यकता नहीं है ।

मानव मात्र के मानस पर जीसस (ईसा) का अपार प्रभाव पड़ता रहा है, किन्तु ईसाइयत का वैसा प्रभाव नहीं है । जन-साधारण को यह पता नहीं है कि ईसा को ईसाइयत के साथ जोड़ना उचित नहीं होगा । तथापि यह एक ऐसा मूलबिंदु है जिसकी ओर हर गंभीर चिन्तक को ध्यान देना चाहिए ।

एच०जी० वेल्स (H.G. Wells) के अनुसार जीसस तो ईसाइयत के बीज थे न कि संस्थापक : “यह आवश्यक है कि पाठक का ध्यान इस तथ्य की ओर दिलाया जाये की निकेशिया की इस पूर्ण विकसित ईसाइयत तथा नाजरेथ के जीसस के उपदेशों के बीच आकाश-पाताल का अन्तर है । सभी ईसाई मानते हैं कि उत्तरवर्ती का पूर्ण समावेश पूर्ववर्ती में है, परन्तु यह प्रश्न हमारे विचार-क्षेत्र से बाहर का है । स्फटिक की भाँति स्पष्ट दीख पड़ता है कि नाजरेथ के ईसा का उपदेश नये प्रकार का एक ऐसा पैगम्बरी उपदेश था जो यहूदी पैगम्बरों के साथ प्रारंभ हुआ । उसमें पुजारी के लिए कोई स्थान नहीं था । उसमें न तो कोई पूजागृह था और न कोई वेदी ।

उसमें कर्मकांड और अनुष्ठान भी नहीं था । “एक भग्न तथा पश्चात्ताप भरा हृदय” ही उसका चढ़ावा था । प्रचारकों का संगठन उसका एकमात्र संगठन था और उसका मुख्य कार्य उपदेश देना था । किन्तु चौथी शती की पूर्ण विकसित ईसाइयत, भले ही

उसने सुसमाचार (Gospel) में जीसस के उपदेशों को अपना नाभिकेन्द्र बनाये रखा, मुख्यत: उसी प्रकार का पुजारी (पादरी) वाला उपासनापन्थ था जैसा हजारों वर्षों से संसार में प्रचलित था । उसके लम्बे-चौड़े कर्मकांड का केन्द्र थी एक वेदी और पूजन का अनिवार्य कार्य था मिस्सा (मास) के एक अभिषिक्त पादरी के हाथ से अर्पित चढ़ावा । और उसका दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति करता हुआ उपयाजकों, पादरियों और बिशपों का एक संगठन था... हमें एक अति महत्त्वपूर्ण बात की ओर ध्यान देना चाहिए कि ईसाइयत की जड़ें जमाने में सम्राट् का हाथ था । न केवल निकेशिया की परिषद् को कॉन्स्टेण्टाइन महान् (Constantine the Great) ने आहूत किया था, बल्कि समस्त बड़ी-बड़ी परिषदों को-यथा दो कान्स्टेण्टिनोपल में (381 और 553), इफेसस में (431) और चाल्सिडोन में (451) राज-सत्ता ने ही बुलाया था । और यह पूर्णत: उजागर है कि इस काल के ईसाइयत के अधिकांश इतिहास में कॉन्स्टेण्टाइन महान् का प्रभाव जीसस के प्रभाव जैसा ही या उससे भी कहीं अधिक परिलक्षित होता है ।"

वेल्स ने यह भी कहा है कि "सुसमाचारों में धर्मविज्ञान संबंधी दृढ़ोक्तियों के जिस समूचे समूह को ईसाइयत का अंग बताया गया है, उसका नगण्य आधार है । इन सिद्धान्त-पुस्तकों में कोई स्पष्ट तथा दृढ़ उक्ति उन सिद्धान्तों के बारे में नहीं है जिन्हें सामान्यत: सभी प्रकार के ईसाई गुरु मुक्ति के लिए आवश्यक समझते हैं । सेंट जॉन के सुसमाचार के एक परिच्छेद के अतिरिक्त वस्तुत: जीसस के श्रीमुख से निकले ऐसे शब्दों को खोज पाना कठिन है जिनमें उन्होंने दावा किया हो कि वह यहूदियों के मसीहा हैं... तथा ईश्वरत्व का अंग होने के किसी दावे को अथवा किसी ऐसे परिच्छेद को खोज पाना तो और भी कठिन है जिसमें उन्होंने 'प्रायश्चित' के सिद्धान्त पर प्रकाश डाला हो अथवा अपने अनुयायियों से प्रसादों अथवा परम प्रसादों के चढ़ावे का अर्थात् पुजारी कर्म का आग्रह किया हो । अभी तो हम इस बारे में विचार करेंगे कि बाद में किस प्रकार समूचा ईसाई जगत् त्रित्व (Trinity) संबंधी विवादों से ग्रस्त एवं त्रस्त हो गया । इस बारे में कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं है कि जीसस के शिष्यों ने कभी 'त्रित्व' के बारे में सुना हो- उनके मुख से तो कदापि नहीं । पुन: यहूदी विश्राम-दिवस (Sabbath) को स्थानांतरित करके आकाश के प्राचीन देवता मिथ्रास के रविवार को मनाना अनेक ईसाई पंथों की विशिष्टता है, किन्तु जीसस ने जान-बूझकर विश्राम-दिवस की प्रथा को तोड़ा और कहा कि उसे

मानव के लिए बनाया गया, मानव को 'सब्बाथ' के लिए नहीं । न ही उन्होंने स्वर्ग की साम्राज्ञी आइसिस के रूप में अपनी माता 'मेरी' की पूजा के बारे में कुछ कहा है । अर्चना तथा आचार में जो कुछ भी सर्वाधिक ठेठ ईसाई है, उस सबकी उन्होंने उपेक्षा की । संशयात्मा लेखक यह स्वीकार करने का साहस जुटा नहीं पाये हैं कि जीसस को ईसाई कहा ही नहीं जा सकता... उतनी ही उल्लेखनीय बात यह है कि जहाँ जीसस ने अपने स्वर्ग के साम्राज्य के सिद्धान्त के उपदेश को भारी महत्त्व दिया वहाँ अधिकांश ईसाई चर्चों की प्रक्रिया तथा उपदेश में उसे अपेक्षाकृत अल्प महत्त्व दिया गया ।"

जीसस के प्रमुख उपदेश, स्वर्ग के साम्राज्य के सिद्धान्त की ईसाई पंथों में अति अल्प भूमिका रही है । "फिर भी इस बात पर ध्यान दिया जाये कि जहाँ जीसस के यथार्थ उपदेशों में ऐसा बहुत कुछ था जिसे कोई धनी व्यक्ति या पादरी या व्यापारी या राजकीय अधिकारी या सामान्य संभ्रान्त नागरिक अपनी जीवन-शैली में अति क्रान्तिकारी परिवर्तन किये बिना स्वीकार नहीं कर सकता, वहाँ ऐसा कुछ नहीं था जिसे शाक्य गौतम के वास्तविक उपदेश का अनुयायी तत्काल ग्रहण न कर सके; ऐसा कुछ नहीं था जो प्राचीन बौद्ध को नाजरीन होने से भी रोके, और ऐसा कुछ नहीं था जो जीसस के अपने चेले को बुद्ध के सभी अभिलिखित उपदेशों को स्वीकार करने से रोके ।"

मूलत: सेंट पाल के चर्चवाद अथवा आगस्टाइन के पूर्व की ईसाइयत का दृष्टिकोण ललित कलाओं के प्रति उदार नहीं था ।

25 अप्रैल, 387 ई० को अपने बपतिस्म (Baptism) के शीघ्र पश्चात् आगस्टाइन (Augustine) ने उदारशील कलाओं विशेषत: संगीत के बारे में विनिबंध-माला की रचना की । उन्होंने अपना निजी उदारशील कला-पाठ्यक्रम तैयार किया । एक प्रकार से उन्होंने पुरातन ज्ञान तथा रोमन शिक्षा-पद्धति को मान्यता प्रदान की ।

आगस्टाइन ने मूर्तिपूजक धर्म की आलोचना की । वह मूर्तिपूजा के घोर आलोचक थे । किन्तु अनजाने में उन्होंने दर्शन, अलंकारशास्त्र तथा पुरातन ज्ञानोपार्जन और यहाँ तक कि सौन्दर्यशास्त्र के तत्वों को भी अपने लेखों में स्थान दिया ।

विक्टोरिया उकोलोवा (Victoria Ukolova) का विचार है : "और समूचे मध्ययुग में यूरोप पर छायी रहने वाली नवीन ईसाई संस्कृति के निर्माता के रूप में वह पुरातनता

की परम्परा के एक निश्चित अंश को आत्मसात् करने के लिए उत्सुक थे ताकि एक नये बौद्धिक तथा सांस्कृतिक समन्वय के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सके ।“

“आगस्टाइन की विविधता ने आध्यात्मिक जीवन की सापेक्षत: ऐसी उदार पद्धति के लिए मार्ग प्रशस्त किया जिसमें पुरातन परम्परा ज्ञानोपार्जन, दार्शनिक युक्तिसंगतता तथा काव्यात्मकता के लिए अजस्र स्रोत सिद्ध हुई ।“

“पुरातन संस्कृति की ओर आगस्टाइन ने जो गहन ध्यान दिया है... वह यथासमय 12 वीं शती के कैरोलिंजियाई पुनर्जागरण, दार्शनिकों तथा कवियों की प्रगतिशील प्रवृत्तियों के लिए ऐसा आवर्धक लेन्स सिद्ध हुआ जो पुरातनता को उनके और अधिक निकट लाया । निश्चय ही वह काफी अनगढ़ आवर्धक हेलेन था और कभी-कभी उसने जीवन को उसकी वास्तविक छवि से कहीं बड़े व छोटे और नीरस रूप में प्रस्तुत किया । किन्तु वह प्रमुख बात नहीं थी, क्योंकि इसके फलस्वरूप पुरातनता का समावेश मध्ययुगीन संस्कृति में हुआ और वह पीढ़ियों के मध्य ऐसा सम्पर्क सिद्ध हुआ जिसने अपने असाधारण तथा परस्पर-विरोधी अस्तित्व से सच्चे पुनर्जागरण के लिए मार्ग प्रशस्त किया ।”

प्रारंभिक मध्ययुगीन कालों में कला में मूर्ति-पूजा की प्रवृतियाँ बनी रहीं । संपूर्ण मध्ययुगीन शिक्षा-पद्धति अधिकांशत: उत्तरवर्ती पुरातन विचारधाराओं जैसे स्तम्भों पर टिकी थी जिनको समुचित रूप से ईसाई बौद्धिक पर्यावरण के अनुकूल अपनाया गया था । साहित्य में भी उत्तरवर्ती पुरातन परम्पराओं का एक प्रकार का समावेश हुआ ।

तीसरी तथा चौथी शताब्दी के नव प्लेटोवाद ने मध्ययुग को ऐसे विचार दिये जो सदैव रूढ़िवादी ईसाइयत से मेल नहीं खाते थे । तापसी आदर्श की खोज का सूत्रपात भी ईसाई-विरोधी जुलियन ने किया ।

विश्वव्यापी राज्य के रोमन सपने का प्रभाव जनमानस पर छाया रहा । कार्लमैग्ने का साम्राज्य, पवित्र रोमन साम्राज्य, स्लावों की तृतीय रोम योजना, और अन्तत: पोप (महान् पोप ग्रेगरी) की धर्मतन्त्रीय महत्त्वाकांक्षाएं रोमन राज्य के इसी आदर्श से प्रेरित थीं ।

जब ईसाइयत राज्य-पन्थ बन गयी, उसके बाद भी रोमन संस्कृति तथा रोमन संस्थानों का प्रभाव बना रहा । संक्रमण तथा परस्पर आबद्धता का यह काल कुछ सदियों तक

चलता रहा । जन-पर्वों की उल्लासपूर्ण भावनात्मक एवं कलात्मक प्रकृति तथा गैर-ईसाई कलाओं की चमक-दमक का नीरस ईसाइयत की कष्टपूर्ण तपश्चर्या तथा धर्मान्धिता से सीधा विरोध था । खड़ग-युद्ध, सर्कस तथा अन्य रंगमंचीय प्रदर्शनों, घुड़दौड़ों, हाथियों तथा मगरमच्छों के प्रदर्शनों में लोगों की रुचि बनी रही । विजयी चर्च होमर की उस स्वर्ण-श्रृंखला को नहीं तोड़ सका जिसने भूतल को स्वर्ग से, पुरातनता को मध्य युगों से, पुरातनता को पुनर्जागरण से, पुरातनता को नवजात राष्ट्रीय संस्कृतियों से तथा पुरातनता को वर्तमान काल से जोड़ा । ग्रेगरी (Pope Gregory) ने संगीत के ऐसे व्यापक उपयोग का शुभारंभ किया जिसमें विभिन्न राष्ट्रों के गायन तथा गैर-ईसाई धुनों की झलक पायी जाती थी ।

एम्ब्रोज (St. Ambrose) उत्तरवर्ती रोमन छन्दशास्त्र की अहंकारपूर्ण भाषा तथा जटिलता से घृणा करते थे ।

ईसाई लेखकों ने पुरातन साहित्य में संतों के जीवन से तथा अंशत: बर्बर जातियों के मिथकों से अनेक चमत्कार उधार लिये । ग्रेगरी ने भी ऐसा ही किया । धीरे-धीरे ईसाइयत ने पुरातन मूर्ति-पूजावाद तथा बर्बर पूजावाद को अपने में रचापचा लिया । अपने 'मोरालिया' (Moralia) में ग्रेगरी ने भी पुरातन छंदशास्त्र, पुरातन व्याकरण तथा पुरातन दर्शन की उपेक्षा नहीं की ।

ईसा-पूर्व के प्रतिभाशाली दिग्गज ईसाई जगत् पर प्रभाव डालते रहे, भले ही अपने 'मोरालिया' तथा 'डायलाग्ज' (Dialogue) (510-604) के लिए प्रख्यात पोप ग्रेगरी जैसे ईसाई पादरियों ने उनके विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा किया । 'संवादों' में पूछा गया : "वैयाकरणों की क्या सार्थकता हो सकती है? क्या वे मार्गदर्शन के स्थान पर हमारे मानस को भ्रष्ट नहीं करते? पाइथागोरस, सुकरात, प्लेटो तथा अरस्तु जैसे दार्शनिकों का वाग्छल हमारा क्या प्रयोजन सिद्ध कर सकता है? होमर, विर्जिल तथा मीनेंडर जैसे अपावन कवियों के गीत हमारे लिए किस काम के हो सकते हैं? मैं पूछता हूँ कि सैलस्ट, हेरोडोटस, लिवी तथा अन्य गैर-ईसाई इतिहासकार ईसाई परिवार का क्या हित कर सकते हैं? क्या ग्रैक्कस, लिसियस, डेमोस्थनीज तथा टुलियस की वाग्मिता ईशु के पावन वचनामृत से स्पर्धा कर सकती है ? फ्लैक्कस, सोलिनस, वार्रो, प्लाटस तथा सिसेरो की बेतुकी युक्तियों हमारे लिए किस काम की हैं ?"

महत्त्वक्रम में आगस्टाइन के बाद ग्रेगरी का नाम आता है । वह छठी शती के अंतिम भाग में और ७वीं शती के प्रारंभ में प्रसिद्धि के पालने में झूले । भले ही अन्दर से ग्रेगरी मूर्ति-पूजावाद को मिटाना चाहते थे, पर उन्होंने पुरातन पांथिक अनुष्ठानों तथा रूढ़िगत समारोहों को करने की अनुमति दी । उन्होंने स्थानीय तथा जनजातीय लोगों के प्राचीन देवी-देवताओं के पवित्र स्थलों की पवित्रता को यथावत् बनाये रखा और उनमें गिरजाघरों की स्थापना की ।

ग्रेगरी के काल में ही रोम, जो कभी सम्राटों का महानगर था, सेंट पीटर के रोम में परिणत हुआ और समूचे ईसाई जगत् की राजधानी होने का दावा करने लगा । (पोप की गद्दी की स्थापना 'देवदूत' पीटर ने की थी) ।

प्रत्यक्ष है कि ईसाइयत पर ईसा-पूर्व के रोमन तथा बर्बर मूर्ति-पूजावाद का प्रभाव पड़ा । 13 वीं शती में अरबी संस्कृति तथा पुनर्जागरण से उसका सम्पर्क हुआ । प्लेटो, अरस्तु, होमर, विर्जिल, ओविड, टालेमी तथा हिप्पोक्रेटिस ने यूरोप को पुनर्जागरण के द्वार तक पहुँचाया । उसने विश्व को एक नव-दर्शन, मूल्यों तथा विचारों की एक नयी पद्धति और एक नवीन कलात्मक भाषा प्रदान की ।

पुनर्जागरण

औद्योगिक क्रांति से पूर्व यूरोप के इतिहास में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण काल पुनर्जागरण (renaissance) का रहा है । अंग्रेजी शब्द रिनैसांस (renaissance) का अर्थ है पुनर्जन्म (re-birth) और इसका प्रयोग समूचे पश्चिमी जगत् के पुनरूत्थान के संदर्भ में किया जाता है । पुनर्जागरण का एक अंश 'पुनर्जागरण' का वह काल था जिसमें १ ४वी, १ ५वीं तथा १ ६वीं शतियों में इटली तथा पश्चिमी जगत् में शैक्षिक, साहित्यिक तथा कलात्मक पुनरूत्थान हुआ । वह इटली से प्रभावित था । पुनर्जागरण शास्त्रीय कला तथा ज्ञान के उत्खनन के कारण हुआ पुनरुत्थान था; किन्तु यह तो यूरोपीय क्षमता एवं ऊर्जा के कहीं अधिक व्यापक तथा अधिक जटिल पुनरुत्थान का केवल एक घटक था । पुनरुत्थान की यह कालावधि सुधार की उस कालावधि की लगभग समसामयिक है जिसमें मुख्यत: चर्च के भीतर 'सुधार' की प्रधानता रही है । असीसी के संत फ्रांसिस

इसके अग्रदूत थे । इसी सुधार- काल में लोयोला के संत इग्नैशियस ने 'सोसाइटी आफ जीसस' की स्थापना की । यह एक वस्तुत: एक बहुआयामी प्रस्फुटन-काल था ।

एक ओर जहाँ १४वीं शती में प्लेग की महामारी फैली, इंग्लैंड, फ्रांस तथा जर्मनी के कृषक-युद्ध हुए, पश्चिमी यूरोप में श्रमिक वर्गों के आन्दोलन हुए और धार्मिक विद्रोहियों तथा सच्चे हुतात्माओं के संघर्ष की परम्परा बनी, वहीं दूसरी ओर १४वीं शती में लाभकर कागज तैयार किया जाने लगा, १५वीं शती में छपाई प्रारम्भ हो गयी तथा स्थानीय बोलियों के स्थान पर विभिन्न प्रदेशों की मानक साहित्यिक भाषाओं के उपयोग द्वारा यूरोपीय साहित्य का श्रीगणेश हुआ ।

ईसा-पूर्व पुरातनता की परम्परा से उस जड़ तथा तने का निर्माण हुआ जिस पर यूरोप की समस्त राष्ट्रीय संस्कृतियों की कलमें लगायी गयीं । छठी शती के अंतिम असाधारण गैर-ईसाई दार्शनिक बोएथियस जैसे 'अंतिम रोमन' पुरातनता की ऐसी सांस्कृतिक निधियों के कुशल रखवाले थे यथा-अनगिनत अति विशिष्ट तथा सुंदर भवनों, कैथेड्रलों धर्मपीठों, मठों, नगरीय गॉथिक चर्चों, नगर-भवनों तथा सशक्त मीनारों वाले दुर्गों का प्रसूनों की भाँति प्रस्फुटन और पुरातन कला के पुन: अन्वेषण, पुनरुद्धार एवं अनुकरण के केन्द्र के रूप में फ्लोरेंस का अभ्युदय । पुनर्जागरण-काल में पश्चिमी यूरोप में यशस्वी नामों के ऐसे नक्षत्र-मंडल का उदय हुआ जो यूनान (Greece) के सर्वोत्तम युग के श्रेष्ठ वैज्ञानिक दिग्गजों को भी निष्प्रभ कर देते हैं । लियोनार्दो दा विन्सी (१४५२-१४१९), कोपरनिकस (१४७३- १५४३, त्येहो ब्राहे (१५४६-१६०९), केपलर (१५७१-१६३०), गिल्वर्ट (१५४०- १६०३), गैलीलियो गैलिली (१५६४-१६४२) ऐसे ही कुछ देदीप्यमान नाम हैं ।

ललित कलाओं के 'साधक' थे- लियोनार्दो दा विन्सी, फिकिथो लिप्पी, बोत्तिसेल्ली, डोनातेल्हो, माइकेल एंजेलो तथा रैफेल ।

यह है उत्पत्ति-गाथा उस विकास की जिसे अब यूरोपीय संस्कृति, यूरोपीय विज्ञान तथा यूरोपीय कला कहा जाता है, यद्यपि बाद में पश्चिमी सभ्यता के अंग के रूप में यूरोप ने विकास के लम्बे-लम्बे डग भरे हैं और वह न्यूटनी विज्ञान से चलकर औद्योगिक क्रान्ति

का पथ पार करके द्वितीय औद्योगिक क्रांति के बाद के आधुनिक काल तक पहुँच गया है ।

नव ज्ञान

स्वाभाविक है कि मानव के ज्ञान में होने वाली प्रत्येक मूल्यवान् वृद्धि विचार-पद्धतियों पर भी प्रभाव डालती है ।

जीसस के मूल वचनों या उपदेशों में ऐसा कुछ नहीं था जिसका विरोध नव-अन्वेषित सत्यों से होता । किन्तु अधिकृत ईसाइयत ने सेंट पॉल के अपने सन्देश-पत्रों में व्यक्त दृष्टिकोण को अंगीकार किया यद्यपि ईसा के उपदेशों (Gospels) में उसका कोई प्रमाण नहीं मिलता । पॉल ने अरस्तु के उन सिद्धान्तों की निरख- परख का कोई कष्ट नहीं उठाया जो उनके काल में प्रचलित थे । ईसाइयत ने अपना महल पॉल के सिद्धान्तों पर खड़ा किया, जीसस के आदेशों पर नहीं । गैलीलियो को अपनी इस दृढ़ उक्ति को बदलने पर बाध्य किया गया कि पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है क्योंकि ऐसी कोई शंका कि यह जगत् ब्रह्मांड का मध्य नहीं है, ईसाइयत की सत्ता एवं प्रभुता पर भीषण कुठाराघात करती दीख पड़ती थी ।

डार्विन की कृतियों 'ओरिजिन ऑफ स्पेसीज बाई मीन्स ऑफ नेचुरल सेलेक्शन' (Origin of species by means of natural selection) तथा 'डिसेण्ट आफ मैन' (The Descent of Man) ने ईसाइयत, प्रथम पाप की उसकी कहानी तथा प्रायश्चित के उसके तर्क को बुरी तरह झकझोर दिया ।

जब आइन्स्टीन ने सिद्ध कर दिया कि पदार्थ को ऊर्जा में और ऊर्जा को पदार्थ में बदला जा सकता है, तो उन्होंने न्यूटनी विज्ञान के आधार पर खड़े भौतिकवाद की नींव को ही हिलाकर रख दिया । उसके बाद भौतिकवाद पर आधारित विचारधाराओं की साख अलग-अलग अंशों में गिर गयी ।

विशेषज्ञों का यह सुविचारित मत है कि यदि आधुनिक प्रौद्योगिकी पर प्रौद्योगिकीय लोकपालों ने अंकुश नहीं लगाया तो वह न केवल सृजन तथा संहार की प्रणालियों को

परिवर्तित करेगी अपितु वस्तुत: एक नितांत नवीन सभ्यता का सूत्रपात कर देगी और मानव-मस्तिष्क उसके साथ कदम से कदम मिलाकर नहीं चल सकेगा ।

चन्द्रमा पर पहली बार मानव के चरण पड़ने का स्वागत करते हुए अपने सम्पादकीय में जी०टी० मधोलकर ने यह आशंका व्यक्त की कि यद्यपि अंतरिक्ष में और आगे अन्वेषण तथा विजय का मानव का अभियान स्वयं में अति-श्लाघ्य है, फिर भी वह उस भाव-प्रवण साहित्य और कला को गंभीर क्षति पहुँचायेगा जिसमें चन्द्र और तारों का गौरवपूर्ण स्थान रहा है ।

कहाँ हिन्दू पुनर्जागरण, कहाँ यूरोपीय पुनर्जागरण

यहाँ इस बात पर आग्रहपूर्वक बल देना ही होगा कि हिन्दू पुनर्जागरण की प्रकृति यूरोपीय पुनर्जागरण की प्रकृति से नितान्त भिन्न होगी ।

जेम्स एच० कोजिन्स (James H. Cousins) ने अपनी कृति 'द रिनैसांस इन इंडिया' (The Renaissance in India) में यह प्रश्न उठाया है कि क्या भारत के संदर्भ में 'पुनर्जागरण' शब्द की कोई सार्थकता है भी? क्योंकि भारत तो सदा-सर्वदा जागृत रहा है और उसे पुनर्जागरण की तो कोई आवश्यकता ही नहीं पड़ी ।

'पुनर्जागरण' (Renaissance) शब्द को भारतीय संदर्भ में समझा जाना चाहिए । यह सच है कि “यह शब्द हमें यूरोपीय संस्कृति के उस संक्रमण-बिन्दु का स्मरण कराता है जिसके संदर्भ में पहले-पहल इसका प्रयोग किया गया था; वास्तव में वह उतना पुनर्जागरण नहीं था जितना कि उलट-पलट और प्रत्यावर्तन था । वह तो ईसाइयत, ट्यूटानियत और सामन्तवाद से त्रस्त यूरोपवासी का पुरानी ग्रीक- लैटिन भावना और रूप के बन्धन में बँध जाना था जिसके साथ उससे उद्भूत जटिल और महत्त्वपूर्ण प्रतिफलों का पूरा समूह था । निश्चय ही यह उस प्रकार का पुनर्जागरण नहीं है जो भारत में किंचित् भी संभव है ।”

श्री अरविन्द के अनुसार आध्यात्मिकता ने ही भारत की नियति की हर कठिन घड़ी में सदैव उसकी रक्षा की और वही उसके पुनर्जागरण का उद्गम-स्रोत भी रही है । वैसे दबाव में किसी भी अन्य राष्ट्र का तो आत्मा ही नहीं अपितु शरीर भी नष्ट हो जाता ।

“१८वीं तथा १९वीं शतियों में अपनी पराकाष्ठा पर पहुँची महान् अवनति” का उल्लेख करते हुए श्री अरविन्द ने उस काल के बारे में कहा है कि “वह तो साम्य-काल है जहाँ से कालचक्र की भारतीय अवधारणा के अनुसार एक नवयुग का श्रीगणेश होना है ।” वे कहते हैं, “यही वह घड़ी थी और उसके बाद ऊपर से थोपी गयी यूरोपीय संस्कृति का दबाव था जिसने पुनर्जागरण को आवश्यक बना दिया ।”

श्री अरविन्द का कहना है : “जब भारत का पुनर्जागरण पूर्ण हो जायेगा तो निश्चय ही यहाँ जागरण होगा, परंतु वह पाशविक (जर्मन) प्रकार का नहीं वरन् कहीं आश्चर्यजनक होगा और भारतीयता की सच्ची प्रकृति तथा क्षमता के अनुरूप होगा ।”

संस्कृति की प्रकृति

हमें न तो 'कल्चर', 'सभ्यता' (civilisation) और 'संस्कृति' शब्दों के गुणार्थ के बारे में पांडित्यपूर्ण चर्चा करनी है और न ही इस दृष्टिकोण का अनुमोदन करना है कि 'संस्कृति' की भाँति 'कल्चर' के बारे में सार्वदेशिक स्वरूप की धारणा होनी चाहिए । हमें तो इस तथ्य को स्वीकार करना है कि बोलचाल की भाषा में 'कल्चर' (culture) किसी समाज के मानस पर पड़ने वाले प्रभावों की ऐसी प्रवृति का द्योतक है जो विशेष रूप से उसकी अपनी होती है और पुन: जो उसके समूचे इतिहास में उसके भावों, उद्वेगों, विचार, वाणी और कर्म का संयुक्त संचित प्रभाव होती

अत: प्रत्येक 'कल्चर' (culture) का मानवीय गतिविधि के प्रत्येक क्षेत्र पर अपना विशिष्ट प्रभाव पड़ता है । यह ठीक ही कहा गया है कि सांस्कृतिक मतभेद उस रीति से उपजते हैं जिस से सामाजिक अनुभव का विश्लेषण और विवेचन करके उसे संकल्पनाओं, प्रतीकों, मूल्यों, दृष्टिकोणों तथा मनोवृतियों के रूप में ढाला जाता है । संस्कृति विशिष्ट सामाजिक आत्मचेतना है । यथा, इस तथ्य के होते हुए भी कि पाश्चात्य संगीत में स्वरसंगीत या सहस्वरिकता (harmony) के उपयोग से बहुत पहले वैदिक ऋचाओं का स्वरसंगतियुका समवेत गान भारत के ऋषि-मुनियों के आश्रमों में गूंजता था, यह स्वीकार करना ही होगा कि भारतीय संगीत पाश्चात्य संगीत से इस दृष्टि से भिन्न है कि उसमें सहस्वरिकता के लिए कोई स्थान नहीं है जबकि सहस्वरिकता पाश्चात्य संगीत का अनिवार्य अंग है । भारतीय संगीत का स्वरूप सुरीला रागात्मक होता है और वह भाव

की सहज भाषा को व्यक्त करता है । सहस्वरिकता राग को गहनता प्रदान करके उसे सजाती-सँवारती है और उसमें चार चाँद लगा देती है । एक विशेषज्ञ के अनुसार पाश्चात्य संगीत में समवेत सहस्वरिकता के भाव तथा भारतीय संगीत में उसके अभाव का कारण इन भागों में रहने वाले लोगों का स्वभाव ही हो सकता है । भारतीय को अपने पड़ोसी की अपेक्षा अनन्त से नाता जोड़ना अधिक सरल लगता है । भारतीय संगीत का प्रयोजन है, "आत्मा को शुद्ध किया जाये, तन पर अनुशासन का अंकुश लगाया जाये, अपने भीतर स्थित अनन्त के प्रति संवेदनशीलता उत्पन्न की जाये, अपने श्वास की डोर को अंतरिक्ष के श्वास के डोर से और अपने स्पन्दनों को ब्रह्मांड के स्पन्दनों से जोड़ा जाये ।" प्राय: भारतीय लोग बाह्य समूहों की अपेक्षा अपने परिवार के बारे में अधिक चिन्ता करते हैं । इन सब कारणों से भारतीय संगीतज्ञ अपेक्षाकृत एकल गायक-वादक होता है, न कि दूसरों के साथ मिलकर संगत करने वाला वादक जैसा कि पाश्चात्य संगीत के बड़े-बड़े वाद्य-वृन्दों के छोटे-छोटे समूह करते हैं । मुख्यत: एकल वादक होने के नाते इस कला-मर्मज्ञ की एक विशेषता होती है-आशु संगीत-प्रदर्शन का अपूर्व कौशल ।

इसके विपरीत यूरोपवासी की इच्छा रही है व्यक्तियों को समुदायों में परिणत करना । इस प्रक्रिया में वह अपनी स्वाधीनता का बलिदान करने को तत्पर रहता है । इसे उसके अपने जीवन में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है, फिर चाहे वह पूजा-अर्चना का क्षेत्र हो या कार्य का, सामाजिकता का हो या संगीत का - जहाँ वाद्य-वृन्दों की प्रधानता रहती है । वाद्य-वृन्दों या गायन-वृन्दों में किसी भी वाद्य या स्वर की स्वतन्त्रता एक सीमा तक ही होती है । उसे अन्य स्वरों की उपस्थिति को ध्यान में रखना पड़ता है और अपने स्वर को समूह के अन्य स्वरों से मिलाना होता है । भारतीय संगीत में समूह में विद्यमान व्यक्ति भी "एकल वादक या गायक ही रहते हैं और कदापि किसी समवेत अभिव्यक्ति में संलीन नहीं होते ।" अत: वाद्य-वृन्द भारतीय संगीत की प्रकृति के अनुकूल नहीं होते ।

'रिपब्लिक' (Republic) में प्लेटो ने कहा है कि "संगीत की शैली का परिवर्तन संस्कृति में मूल परिवर्तन का आभास देता है ।"

'द मीनिंग एंड प्रोसेस आफ कल्चर' (The meaning and process of culture) में प्रो० गोविन्दचन्द्र पांडे ने कहा है : "भारत का सामाजिक इतिहास पश्चिम के इतिहास से भिन्न है । भारतीय इतिहास की एक नितान्त भिन्न लय और ताल है । पश्चिम में सामाजिक

परिवर्तन अधिक द्रुतगति से और कभी-कभी तो क्रान्तिकारी ढंग से हुए हैं । सामाजिक जीवन के विकास में राज्य ने सर्वाधिक प्रभावी भूमिका निभायी है और सत्ता के लिए संघर्ष अधिक तीखा तथा अधिक व्यापक रहा है । वैचारिक प्रतिबद्धता की पराकाष्ठा रही है और मतभेद तथा विरोध के प्रति सहिष्णुता अल्पतम । तर्कसंगतता के अपने पागलपन में पश्चिमी विचारधारा ने लोकाचार तथा अभिवृत्तियों की असंगतियों को ऐसे असाध्य अन्तर्विरोधों का रूप दे दिया है जो निरंकुश चयन की अपेक्षा करते हैं । दूसरी ओर भारतीय मानस ने प्रयास किया है कि सामाजिक संबंधों का विनियमन अमूर्त कारण से नहीं अपितु सहज ज्ञान तथा सहानुभूति से किया जाये । नयी चुनौतियों का सामना करने के लिए उसने पुराने समाधानों में सुधार-संशोधन किये हैं, उन्हें अस्वीकार नहीं किया

“पश्चिमी मानववाद ने प्रकृति पर मानव की सत्ता पर बल दिया है और उसे अपनी इच्छापूर्ति का साधन बताया है । भारतीय मानववाद ने 'जिओ और जीने दो' का सहिष्णु दर्शन अपनाया है । प्रकृति पर विजय के अभियान के स्थान पर उसने एक स्तर पर प्रकृति से समन्वय के ओर दूसरे स्तर पर उससे मुक्ति के आदर्श को मान्यता दी है । सत्ता के माध्यम से मुक्ति के स्थान पर उसने आत्म- निग्रह के माध्यम से मुक्ति का प्रयास किया है । पश्चिम में उपासना-पद्धति (religion) का अर्थ रहा है संगठित या संस्थागत रूढ़ि से संलग्न होना और इस प्रकार समूह से एकरूप हो जाना । भारत में सदा ही ऐसी अति सशक्त परम्परा रही है जिसमें धर्म की विशिष्ट तथा परा-सामाजिक प्रकृति पर बल दिया गया है । पश्चिमी समाज की परम्परा में 'सभ्यता की तकनीकी व्यवस्था' वाली नगर-जीवन- शैली की प्रधानता रही है । पश्चिम का इतिहास एथेन्स तथा अलेक्जान्द्रिया, रोम तथा कुस्तुन्तुनिया, पेरिस तथा लंदन का इतिहास है । उसमें सामाजिक तथा राजनीतिक रूप में संक्रमण का एक सुचिह्नित कालक्रम रहा है । अत: उसका सहज काल-विभाजन किया जा सकता है । दूसरी ओर भारत की सामाजिक तथा सांस्कृतिक परम्परा में प्राचीनता तथा नवीनतर रूप साथ-साथ चलते रहे हैं और यह तारतम्य प्रागैतिहासिक काल तक बना हुआ है । रूढ़िवाद के साथ-साथ अतीत की पुर्नव्याख्या करने की तत्परता ने क्रांतियों के मार्ग को अवरुद्ध किया है और वर्ण-व्यवस्था ने वर्ग-वैमनस्यों तथा (वर्ग) संघर्षों को पनपने नहीं दिया है । भारतीय समाज के इतिहास को

स्पष्टत: विभक्त कालखण्डों की अपेक्षा परस्परव्यापी कालखंडों में अधिक सहजता से विभाजित किया जा सकता है । वह समग्र प्रगति तथा एकता की परिधि में आश्चर्यजनक तारतम्य तथा विविधता की छवि प्रस्तुत करता है ।"

श्री अरविन्द ने इस बिन्दु को बड़े ही विश्वासजनक ढंग से प्रस्तुत किया है । यथा, कला के क्षेत्र में उन्होंने कहा है :

"पश्चिमी मानस रूप या आकार के आकर्षण-जाल में फँसा हुआ है । वह उससे चिपटा रहता है और उसके मोहपाश से मुक्त नहीं हो सकता । वह रूप के अपने सौन्दर्य के कारण उसके प्रति आसक्त रहता है । वह उन भावनात्मक, बौद्धिक, सौंदर्यालक संवेदनाओं पर निर्भर रहता है जो सीधे उसकी अति मूर्त भाषा से उपजती हैं । वह आत्मा को तन तक सीमित रखता है । कुछ ऐसा कहा जा सकता है कि इस मानस के लिए रूप भाव का सृजन करता है । अपने अस्तित्व तथा हर प्रकार की अभिव्यक्ति के लिए भाव रूपाकृति की वैशाखी चाहता है । इस संबंध में भारतीय दृष्टिकोण इसके सर्वथा विपरीत है । भारतीय मानस की दृष्टि में रूप का कोई अलग अस्तित्व नहीं है । वह तो भाव का सृजन है और वह अपनी सम्पूर्ण सार्थकता तथा मूल्य भाव से ग्रहण करता है । प्रत्येक रेखा, आकार-व्यवस्था, रंग, रूप, मुद्रा, प्रत्येक शारीरिक हाव-भाव, चाहे वह कितने भी अनगिनत, कितना भी विविध, संकुल तथा प्रचुर हो, मूलत: और अन्तत: एक सुझाव, एक संकेत और बहुधा एक प्रतीक भर होता है । उसका प्रमुख प्रयोजन होता है कि वह एक ऐसे आध्यात्मिक भाव, विचार, छवि के लिए आधार प्रस्तुत करता है जो पुन: अपने से कहीं परे उस अल्प वचनीय पर कहीं अधिक सशक्त रूप से संवेदनीय भाव की वास्तविकता तक पहुँच जाता हे जिसने सौंदर्य-पारखी मानस में इन हाव-भावों का उद्दीपन करके उनके माध्यम से अर्थपूर्ण आकार ग्रहण किया है ।"

"तुलना कीजिए । एक ओर वहाँ ठसाठस भरी कला-दीवार और चित्रों से अतिरंजित दीवारें हैं तो दूसरी ओर यहाँ एकान्त गुफाओं में स्थित मंदिरों में हमारी कलाकृतियाँ हैं । भारतीय मंदिर अपनी अन्तरतम वस्तु-सत्ता में दिव्य आत्मा की वेदी है, ब्रह्माण्डीय चेतना का आवास है, अनंत की स्तुति और आराधना है ।" "प्राचीन तथा मध्ययुगीन भारत की मूर्तिकला का स्थान कलात्मक उपलब्धि के सर्वोच्च सोपान से भी उच्च स्तर पर है । खोजने पर भी इससे अधिक गहन उद्देश्यपूर्ण, अधिक भावपूर्ण तथा उपलब्धि के

सतत कौशल से अधिक परिपूर्ण मूर्तिकला हमें नहीं मिल सकेगी । मूर्तिकला की सर्वांगपूर्ण कलाकृतियों का दो सहस्राब्दियों का प्रामाणिक इतिहास किसी देश के जीवन का दुर्लभ तथा श्लाघ्य तथ्य है । इसका कारण यह है कि लोगों के धार्मिक, दार्शनिक तथा सौंदर्यप्रेमी मानस के बीच घना संबंध रहा है । भारतीय मूर्तिकला की महानता यह है कि प्रस्तर तथा कांस्य में उसने जिन भावों को व्यक्त किया है उनकी यूनानी सौंदर्य-प्रेमी मानस अभिव्यक्ति तो क्या, कल्पना भी नहीं कर सका; और उसमें साकार हुई है समुचित परिप्रेक्ष्यों की अति गहन सूझबूझ तथा स्वदेशी परिपूर्णता ।" "कला के विषय में पश्चिमी मानस चिरकाल तक उस यूनानी तथा पुनर्जागरण की परम्परा के बंधन में बंदी रहा जिसमें बाद की मानसिकता ने इतना भर परिवर्तन किया कि उसमें से बाहर जाने के लिए केवल दो पार्श्व-कक्ष रोमानी तथा यथार्थवादी प्रेरणाओं के उपलब्ध करा दिये, किन्तु वे भी थीं तो उसी भवन की शाखाएं ।" विश्व ने मूर्तिभंजकों के नग्न बर्बर विध्वंस को देखा है । मुस्लिमों ने गैर- मुस्लिमों की कला तथा वास्तुकला की कृतियों का मूढ़ विध्वंस किया । पुर्तगालियों ने बर्बरता से एलीफैंटा की मूर्तियों तथा निम्नोद्भृत कलाकृतियों नक्काशियों को नष्ट किया । अल्लाह की फौजों ने अलेक्जाण्ड्रिया और नालन्दा के प्रसिद्ध ग्रन्थागारों को जलाकर भस्म कर दिया । इसके विपरीत देखिए उन सेकड़ों गुफा-मंदिरों को जो हमारे युग की प्रारंभिक शतियों में जैनों, वेदानुयायियों तथा बौद्धों के लिए बनाये गये । खजुराहो में सदियों तक बड़े ही प्रेमभाव और सम्मान के साथ जैनों, वैष्णवों तथा शैवों के मंदिर साथ-साथ खड़े रहे । जिहादियों की संस्कृति के साये में तो इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती ।

जब संस्कृति की शैली में परिवर्तन होते हैं तो उनके कारण भाषा में भी निरंतर परिवर्तन होता रहता है । भाषाओं पर सांस्कृतिक तत्त्वों का प्रभाव पड़ता है और वे अपने ध्वन्यात्मक तथा संरचनात्मक बाह्यरूपों के अनुसार बदलती हैं । इसमें संदेह नहीं कि संस्कृति की प्रक्रिया में कतिपय मूलभूत संस्थाओं या प्रथाओं तथा वृत्तियों में अपेक्षाकृत अल्प परिवर्तन होते हैं और प्राय: पुराने अर्थों में से नये अर्थ निकाल लिये जाते हैं । किन्तु अर्थ-परिवर्तन के क्षेत्र में हम असीम सी संभावनाओं के क्षेत्र में पदार्पण करते हैं क्योंकि वह सामान्य सांस्कृतिक परिवर्तन के समानान्तर चलता है । सांस्कृतिक परिवर्तन के कारण विभिन्न प्रकार के वार्तालापों की आवृत्ति में परिवर्तन होता है और उसका प्रभाव शब्दकोष अथवा भाषा में शब्दों की पुनरावृत्तियों पर पड़ता है । अत: शब्द

अर्थहीन हो जाते हैं, नये शब्दों का प्रचलन होता है और पुन: एक सम्पूर्ण वितरण होता है । अर्थ-परिवर्तन की यह एक मूल प्रक्रिया है । शामी (semitic) भाषाओं की अपेक्षा भारोपीय (भारतीय- यूरोपीय) भाषाओं में कहीं अधिक परिवर्तन हुए हैं क्योंकि भारोपीय देशों में कहीं अधिक सांस्कृतिक परिवर्तन हुए हैं ।

दर्शन के बारे में भी यही स्थिति है । यहाँ तक कि 'मानववाद' पूर्व से पश्चिम तक जाते-जाते अपना स्वरूप बदल लेता है ।

श्रद्धेय श्री गुरुजी (मा०स० गोलवलकर) कहा करते थे कि पश्चिम का मानववाद आत्मकेन्द्रित है । लेकिन हिन्दू मानववाद की स्थिति भिन्न है । वह तो परम सत्य की इस अनुभूति से उपजा है कि 'सब एक ही है' अथवा 'समूचा ब्रह्मांड अखंड इकाई है । '

नलिनीकांत गुज का विचार है : “वास्तविक मानववाद का जन्म अथवा पुनर्जन्म पुनर्जागरण के साथ हुआ । जितना वह रचनात्मक तथा सकारात्मक था, उतनी ही कट्टरता तथा कठोरता से वह नकारात्मक और प्रतिवादी भी था । क्योंकि उसका मूल स्वरूप-जिसके आधार पर उसका नामकरण हुआ - उस सब के विरुद्ध प्रतिरोध के रूप में था, उस सबसे उसकी विमुखता थी, जिसका संबंध अति-मानवीय, ईश्वर अथवा आत्मा से, स्वर्ग अथवा अन्य लोकों से और अमूर्त अथवा अतीन्द्रिय वास्तविकताओं से था । यह आन्दोलन वस्तुत: इसलिए 'मानवतावादी' था कि उसने ईश्वरपरायणता तथा ईशतन्त्रपरायण मध्ययुग का विरोध किया ।” डॉ० मैस्त्रे खेद प्रकट करते हैं : “मैंने अपने समय में फ्रांसीसियों, इतालवियों और रूसियों को देखा है । भला हो माण्टेस्क्यू का कि मैं यह भी जानता हूँ कि कोई फारसवासी भी हो सकता है । किन्तु जहाँ तक मानव का संबंध है, मैं घोषणा करता हूँ कि अपने जीवनकाल में मैंने उसे नहीं देखा है और यदि वह कहीं है तो उसकी जानकारी मुझे नहीं है ।“

“आधुनिक संस्कृति का मार्ग मानवता से प्रारंभ होता है और राष्ट्रीयता से होता हुआ पाशविकता तक पहुँचता है ।” प्रत्यक्ष है कि यहाँ 'आधुनिक संस्कृति' का उल्लेख 'पश्चिमी संस्कृति' के संदर्भ में किया गया है ।

फ्रिट्जॉफ काप्रा का विचार है : “पश्चिमवासी अभी तक इस बात के पक्षधर रहे हैं कि सहज अर्न्तज्ञान से तर्कसम्मत ज्ञान, धर्म से विज्ञान, सहकारिता से प्रतियोगिता और

प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण से उनका शोषण श्रेष्ठ है । अन्य कारणों के अतिरिक्त इन कारणों से घोर सांस्कृतिक असंतुलन उत्पन्न हो गया है और वही हमारे वर्तमान संकट की जड़ है... हमारे विचारों तथा भावनाओं में, हमारे मूल्यों और हमारी वृत्तियों में तथा हमारी सामाजिक तथा राजनीतिक संरचनाओं में असंतुलन उत्पन्न हो गया है । वर्तमान संकट संवेदनशील संस्कृति से संक्रमण का है । चाहे व्यक्ति हो या समाज, सभ्यता हो या ग्रह (पृथ्वी) की पर्यावरण-व्यवस्था, सर्वत्र हम संक्रमण की स्थिति में हैं । तो हमें आवश्यकता है एक नये प्रतिमान की..., वास्तविकता के एक नये दर्शन की, हमारे विचारों, अनुभूतियों तथा मूल्यों में आमूल परिवर्तन की ।" स्वयं 'संस्कृति' के प्रति पश्चिम के दृष्टिकोण पर इस 'सांस्कृतिक असंतुलन' का अति खेदजनक तथा भयावह कुप्रभाव पड़ा है । इस विषय के संबंध में एक अतिवादी दृष्टिकोण लारेंस लोवेल (Abbott Lawrence Lowell) नामक व्यक्ति ने 'एट वार विद एकेडेमिक ट्रैडीशन्स इन अमेरिका' (At war with academic traditions in America) में व्यक्त किया है :

"संसार में (संस्कृति से) अधिक भ्रामक और कुछ नहीं है । शब्दों में उसके अर्थ को व्यक्त करने का प्रयास वायु को मुट्ठी में बांधने जैसा है जब हम देखते हैं कि वायु और तो सर्वत्र है, नहीं है तो केवल हमारी मुट्ठी में ।" संस्कृति जीवन-मूल्यों को ढालती है । हमारी संस्कृति ने हमें जीवन के विविध मूल्यों का वरदान दिया है । पंडित जवाहरलाल नेहरू ने कहा है, "हम भारतवासी अपने समूचे इतिहास-काल में एक अनोखे ढंग से पले और ढले हैं । आधुनिक युग का हमारा सबसे महान् नेता न तो धनवान था और न ही वह सैन्यशक्ति या किसी बड़े पद से सम्पन्न था, फिर भी करोड़ों भारतवासी उनके आगे अपना शीश झुकाते थे और उनके महान् नेतृत्व का अनुसरण करने का प्रयास करते थे । ऐसे ही व्यक्ति का हम सम्मान करते हैं और मैं आशा करता हूँ कि हम आधुनिक जगत् में भी सदा ऐसे ही व्यक्ति का आदर करते रहेंगे ।"

पश्चिमी मानस के लिए यह चमत्कार है । ऐसा कैसे हो सकता है? पी०एच० प्रभु कहते हैं : "भारत तथा अन्य देशों के सामाजिक वर्गों की उत्पत्ति, विकास तथा स्थिरता के बीच एक भारी अन्तर यह है कि अन्यत्र वर्ग-प्रतिष्ठा धन-सम्पदा की सहचरी तथा सहज उपज होती है और सत्ता तथा प्राधिकार उसके साथ जुड़े रहते हैं, जबकि हिन्दू भारत में

न केवल यह प्रयास किया गया कि सम्पदा को प्रतिष्ठा से, सत्ता को प्राधिकार, निष्काम कर्म को वैज्ञानिक उपलब्धियों तथा सुख- सुविधाओं के प्रलोभनों से पूर्णत: मुक्त रखा जाये, बल्कि उस लक्ष्य को प्राप्त भी किया गया ।"

हिन्दू सौन्दर्यबोध

हमारी संस्कृति निगमनात्मक संस्कृति है । जिस संस्कृति में मानव-जीवन की सपूर्ण संरचना मानव तथा ब्रह्मांड के बीच सर्वांगपूर्ण संबंधों पर टिकी होती है, उसे 'निगमनात्मक संस्कृति' कहते हैं । किसी व्यक्ति का जो कर्म जीवन के परम लक्ष्य से मेल नहीं खाता, उसे सौन्दर्यबोध से भी असंगत माना जाता है । ग्रीक (यूनानी) मानस पर छायी हुई सौन्दर्य की संकल्पना और तत्सम्बन्धी हिन्दू संकल्पना में तत्वत: बड़ा अन्तर है । भारतीय सौन्दर्यबोध द्वारा अपेक्षित रेखाएं और उनका प्रवाह तथा वक्र (उभार और कटाव - गोलाई और तीक्ष्णता) यूरोपवासी द्वारा अपेक्षित गति और वक्रता जैसे नहीं हैं । हो सकता है कि हिन्दू टिण्टोरेट्टो की कलाकृतियों, उभरी हुई कठोर मांसपेशियों वाले 'आदम' और सुंदर 'हौवा', ड्रैगन (दैत्य) का संहार करते हुए सेंट जार्ज, वेनेशिया के सीनेटरों को दर्शन देते हुए ईशु के सौंदर्य की पूर्णत: सराहना न कर सके । हिन्दुओं को फ्रायड का सिद्धांत केवल अति सीमित रूप में मान्य है । एक सुन्दर किशोरी सामान्यत: आकर्षक लगती है । इसे विवादास्पद कथन नहीं माना जाना चाहिए । किन्तु निर्दोष मुस्कान बिखरेने वाला एक नन्हा शिशु भी तो सुन्दर होता है, पर वह सामान्य मानस में वैसा मनोभाव तो उत्पन्न नहीं करता जिसका अनुभव किसी को सुन्दर नारी को देखने पर होता है । तारों भरे स्वच्छ आकाश वाली रात, हिमालय की शुभ्र हिमाच्छादित श्रेणियाँ, नदियों अथवा समुद्रों के संगम जैसे प्राकृतिक दृश्य भी तो हमारे सौंदयबोध को उद्दीप्त एवं जागृत करते हैं, पर वे फ्रायडवादी कामवासना के संवाहक तो नहीं होते । न ही उनका दिव्य सौंदर्य तुरंत हथिया लेने की हमारी नैसर्गिक लालसा को भड़काता है । हम केवल उन्हें सराहते हैं, उनका आनंद लेते हैं और अपनी सुधबुध खो बैठते हैं । हमारी दृष्टि में ये सब वस्तुएं 'लौकिक अथवा ऐहिक' नहीं होतीं । एक सहज अनुभूति होती है कि ये दृश्य तो इस भूलोक से कहीं दूर के हैं अथवा वे स्वर्ग के या जिस किसी भी अन्य नाम से हम उसे पुकारें, उसके निकट हैं । हमें एक विशुद्ध,

अमिश्रित आनंद की अनुभूति होती है और हम अपने क्षुद्र स्वार्थों वाले जीवभाव को भूल जाते हैं । एक कट्-टर नास्तिक के लिए भी यह मानसिक अवस्था उस आध्यात्मिक समाधि की दिशा में बढ़ता हुआ एक लम्बा डग है जिसे वह अपनी निजी अनुभूति के सच्चे स्वरूप को जाने बिना भी वस्तुत: अनुभव कर सकता है । हिन्दू सौंदर्यबोध उसी आध्यात्मिक अनुभूति की ओर ले जाने वाला राजमार्ग है जहाँ परम सत्य, परम ज्ञान तथा परम आनंद- सत्, चित्, आनंद की त्रिवेणी का संगम है । 'नासदीय' सूक्त मानव मन की सर्वप्रथम सौंदर्याभिव्यक्ति रहा है । उसकी भावना की डोर के दर्शन इन समूची शतियों के साहित्य एवं कला में किये जा सकते हैं । 'अमृतानुभव' जैसी श्रेष्ठ कृतियों में यह संभव नहीं है कि सौंदर्यबोध तथा आध्यात्मिकता के बीच कोइ विभाजक रेखा खींची जाये । टिथोनस, उमर खय्याम, कैसानोवा एक प्रकार के सौंदर्यबोध का प्रतिनिधित्व करते हैं तो वैदिक ऋषि, संत ज्ञानेश्वर, स्वामी विवेकानंद तथा अन्य दूसरे प्रकार का । उनकी कला संबंधी परख का स्तर और भी ऊँचा है । दोनों की परिणति आनंद में होती है, किन्तु एक के संदर्भ में आनंद तात्कालिक तथा सीमित है, जबकि दूसरे के संदर्भ में वह शाश्वत तथा असीम है । सपूर्णतापरक हिन्दू, सौंदर्यबोध प्रस्फुटित होकर आध्यात्मिकता का रूप ले लेता है । कोई भी अन्य संस्कृति इस सोपान तक नहीं पहुँचती ।

आध्यात्मिकता की अपरिहार्यता को पंडित नेहरू ने इस प्रकार व्यक्त किया है..

“देश में भौतिक समृद्धि सुनिश्चित करने के अपने प्रयत्न में हमने मानव- प्रकृति के आध्यात्मिक तत्त्व की ओर ध्यान नहीं दिया है । अत: यदि व्यक्ति तथा राष्ट्र के सामने कोई सार्थक प्रयोजन प्रस्तुत करना है, जिसके लिए वह जिये और यदि आवश्यकता पड़ती है तो मरने के लिए भी तत्पर रहे, तो हमें एक जीवन- दर्शन को पुनरुज्जीवित करना होगा और अपने चिन्तन-मनन को आध्यात्मिक पृष्ठभूमि प्रदान करनी होगी । हम कल्याणकारी राज्य की बातें करते हैं और लोकतंत्र तथा समाजवाद की भी, किन्तु वे हमारे सामने स्पष्ट तथा दुविधारहित अर्थ प्रस्तुत नहीं करते । लोकतंत्र और समाजवाद साध्य की प्राप्ति के साधन हैं, वे स्वयं साध्य नहीं हैं ।“ “अपनी समस्याओं के इन आर्थिक पक्षों पर विचार करते समय हमें उस प्राण-शक्ति के वेदान्ती आदर्शों को ध्यान में रखना होगा जो हमारे अस्तित्व का आतंरिक आधार है ।“

संस्थागत साँचा-ढाँचा

इस संबंध में पश्चिम में १८४८ से लेकर आज तक गरमागरम सार्वजनिक बहस होती रही है । हिदुओं को सदैव इस बात का ज्ञान रहा है कि कला मानव-मन की उपज है, मानव-मन और समाज-व्यवस्था की एक दूसरे पर क्रिया और प्रतिक्रिया होती रहती है तथा यद्यपि अंतिम विश्लेषण के अनुसार मानव-मन अधिक निर्णायक तत्त्व है, फिर भी मानव-मन पर समाज-व्यवस्था का प्रभाव भी एक निर्विवाद तथ्य है । किसी भी प्रकार का सृजनकर्म हो, उसमें सृजनकर्ता स्वयं को अपने सृजन की वस्तु से एकाकार कर लेता है । उत्कृष्टता तभी प्राप्त की जा सकती है जब सृजनकर्ता का 'आत्म' अपने सृजन की वस्तु अर्थात् 'अनात्म' के साथ अपना पूर्ण विलय कर लेता है । 'आत्मसक्त' ऐसा नहीं कर सकता क्योंकि उसकी आत्मासक्ति उसके आत्म को अपने से परे की किसी भी वस्तु से पूर्णतया एकाकार नहीं होने देती । किसी भी सृजनात्मक कार्य में- चाहे वह कला हो या साहित्य अथवा विज्ञान-उत्कृष्टता और 'आत्मासक्ति' एक दूसरे के सर्वथा विपरीत हैं । सृजन की वस्तु के प्रति सच्चा और संकोचरहित प्रेम होना ही चाहिए । जब स्तालिन ने घोषणा की थी कि कम्यूनिज्म का आधार घृणा है, तो श्रद्धेय श्री गुरु जी (माधवराव गोलवलकर) ने कहा था कि हिन्दुत्व का आधार तो प्रेम है । तब सृजनात्मकता के संदर्भ में उनके इस उद्गार की महत्ता को भलीभाँति हृदयंगम नहीं किया गया था ।

प्रेम समस्त कलाओं का अपरिहार्य स्रोत है, अत: कोई भी समाज-व्यवस्था जो इस अनमोल दिव्य भावना के सृजन, उज्जीवन तथा उन्नयन में सहायक नहीं होती, वह कला के पल्लवन में भी सहायक नहीं हो सकती ।

नूतन काल में एरिक फ्रॉम (Erich Fromm) ने इस विषय का समुचित विवेचन किया है । सभी मानवतावादियों की भाँति फ्रॉम भी आत्मविमुखता, अमानवीयकरण, पदार्थीकरण का विरोध करते हैं । औद्योगिक सभ्यता इन सब पापों के लिए उत्तरदायी हैं । बढ़ई, सुनार, किसान और चित्रकार के प्रसंग में उत्पादनकर्ता और उसके उत्पादन के बीच प्रगाढ़ निजी संबंध होता है । किन्तु आधुनिक कारखाने के कर्मकार का अपने उत्पाद से ऐसा कोई संबंध नहीं होता । उसके सभी संबंध निजत्वहीन या अवैयक्तिक होते हैं । उसकी दृष्टि में 'समता' का अर्थ है प्रतिमानीकरण । आज 'समता' का अर्थ है 'एकरूपता' न कि एकता । वह एक व्यक्ति नहीं रहा- उसका कोई व्यक्तित्व नहीं होता । वह तो 'नौ से पाँच बजे' तक हाजिरी बजा देता है । वह श्रम-बल अथवा नौकरशाही का एक पुर्जा बनकर रह जाता है । उसकी सभी

गतिविधियाँ पूर्व-निश्चित होती हैं और दिनचर्या बनकर रह जाती हैं । व्यक्तित्व की विशिष्टता के इस लोप पर मार्क्स ने रोष प्रकट किया था । उन्होंने कहा था, “मानव को मानव समझो और संसार के साथ उसके संबंध को मानवीय दृष्टिकोण से देखो । आपको केवल प्रेम के बदले प्रेम, केवल विश्वास के बदले विश्वास आदि मिल सकता है । यदि आप कला का आनंद लेना चाहते हैं तो आपको कलात्मक प्रशिक्षण प्राप्त व्यक्ति होना ही चाहिए.... मानव तथा प्रकृति के साथ आपके हर संबंध को आपकी मनोवांछित वस्तु के अनुरूप आपके वास्तविक व्यक्तिगत जीवन की सुस्पष्ट अभिव्यक्ति होना ही चाहिए ।” आधुनिक प्रौद्योगीकरण में यह संभव नहीं है । प्रेम ही मनोविज्ञान की अंतिम परिणति होना चाहिए, किन्तु औद्योगिक मनोविज्ञान इस तथ्य को मान्य नहीं करता ।

फ्रॉम ने कहा है, “यदि समसामयिक पश्चिमी संस्कृति में हम प्रेम के बारे में चर्चा करते हैं तो हमारा आशय यह प्रश्न करने का होता है कि क्या पश्चिमी सभ्यता की सामाजिक संरचना और उससे उत्पन्न होने वाली भावना प्रेम के विकास में सहायक है । यह प्रश्न करना इसका उत्तर 'नहीं' में देना है ।”

“पूँजीवादी समाज के सिद्धान्त तथा प्रेम के सिद्धान्त के बीच चील और साँप का सा बेर है..... निश्चय ही वर्तमान व्यवस्था के अधीन प्रेम कर सकने वाले लोग विरले ही होते हैं । निश्चय ही वर्तमान पश्चिमी समाज में प्रेम एक पार्श्ववर्ती घटना है । इसका कारण यह नहीं है कि व्यवसायों की विविधता प्रेम की प्रवृत्ति को पनपने नहीं देती, बल्कि यह है कि उत्पादन-अप्रधान तथा पुण्य-लोभी समाज की भावना कुछ ऐसी है कि केवल प्रतिबद्धताविहीन ही उसमें अपनी रक्षा कर सकता हे...... यदि प्रेम को नितान्त व्यक्तिपरक और उपेक्षित कोने की घटना नहीं वरन् सामाजिक परिदृश्य बनाना है तो हमारी सामाजिक संरचना में महत्त्वपूर्ण तथा आमूल परिवर्तन आवश्यक है ।”

यदि मानव को प्रेम कर सकने योग्य बनाना है तो उसे उसका सर्वोच्च स्थान देना ही होगा । उसे आर्थिक तंत्र का स्वामी बनना होगा, न कि उसका दास । स्वाभाविक है कि सच्ची 'कला' की उन्नति के लिए भी यही पूर्व शर्त है । 'समाज-व्यवस्था' एक व्यापक शब्द है । सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक संस्थानों का समूचा साँचा-ढाँचा इसके अंतर्गत आ जाता है ।

कला की प्रकृति

इस विषय से कला की प्रकृति का भी कुछ सम्बन्ध है । श्री अरविन्द का कहना है कि चित्रकला के क्षेत्र में उत्तरवर्ती यूरोप ने दीर्घकाल की सतत् नवीन प्रेरणा के साथ प्रचुर मात्रा में बहुत कुछ किया है, किन्तु फिडियास के ओलम्पियन देवताओं का चित्रण गुणात्मक दृष्टि से वैसे कलात्मक स्तर का नहीं है जैसा कि भारतीय मूर्तिकला में तराशे गये देवताओं यथा बुद्ध, नटराज तथा शिव के नृत्यों का है । श्री अरविन्द के अनुसार यह अन्तर कलाओं अर्थात् चित्रकला और मूर्तिकला के किए आवश्यक मानसिकता की (दोनों स्थानों पर) भिन्नता के कारण आया है । पत्थर या कांस्य को तराशने की कला के लिए प्राचीन पूर्वजों जैसा मानसिक साँचा अपेक्षित है । आधुनिकों के पास वह है नहीं और है भी तो केवल विरलों के पास । उसके लिए तो ऐसा कलात्मक मानस चाहिए जो न तो अति चंचल और असंयमी हो, न ही अपने व्यक्तित्व तथा मनोभाव और क्षणिक आवेगों से अति अभिभूत हो । वह तो सुदृढ़ विचार तथा कल्पना के किसी महान् आधार पर टिका हो, स्थिर स्वभाव वाला हो और अपनी कल्पना को ऐसी वस्तुओं पर स्थिर करे जो सुदृढ़ और टिकाऊ हों । रंग का आत्मा सौंदर्य के प्रति जिस असंयम की अनुमति देता है और उसे आमंत्रित भी करता है, तूलिका, लेखनी या पेसिल की रेखा जीवन की चहल-पहल के जिस आकर्षण की अनुमति देती है, उसका यहाँ निषेध है और यदि किसी अंश तक स्वीकृति है भी तो संयम की लक्ष्मण- रेखा के भीतर, जिसे लांघना संकटास्पद ही नहीं है बल्कि शीघ्र घातक भी है । एंजेलो अथवा रोडिन जेसे इक्के-दुक्के व्यक्तियों की कुछ महान् कृतियों के उपरान्त भी उत्तरवर्ती यूरोप अधिकांशत: मूर्तिकला के क्षेत्र में असफल रहा है । उसका कारण है वह प्रस्तर तथा कांस्य के बाहरी भाग में ही रमा रहा । उसने भीतर नहीं झाँका । जीवन के चित्रण के लिए उसने उन्हें केवल माध्यम बनाया । उनके लिए वह गहन दर्शन अथवा आध्यात्मिक प्रेरणा का आधार नहीं प्राप्त कर सका ।

भाग तीन

दिशा

दिशा

विरोधाभास

यह है परम्परागत हिन्दू चिन्तन-पद्धति, जिसकी मूल प्रकृति एकात्मतावादी है । जिन लोगों को इस दृष्टिकोण का ज्ञान अथवा ध्यान नहीं है, वे पश्चिम के दिग्गजों की महानता का भी समुचित मूल्यांकन नहीं कर सकेंगे । सौंदर्य और कुरूपता की सच्ची प्रकृति के बारे में दार्शनिक सुकरात क्यों जिज्ञासा रखते थे? जब यूरोप में प्लेटो तथा अरस्तु की दार्शनिक विचारधाराओं के वास्तविक आशय के बारे में कभी न समाप्त होने वाला विवाद प्रत्यक्षत: अपने पूर्ण वेग पर था तो कलाकार रैफेल (Raphael) ने सामान्य यूरोपीय मानस के लिए इस विद्वत् स्तरीय विवाद का निपटारा इस प्रकार किया : उन्होंने अपने 'द स्कूल आफ एथेन्स' (The School of Athens) के चित्र-क्रम में चित्रित किया कि प्लेटो अपना हाथ स्वर्ग की ओर संकेत करते हुए उठाये हुए हैं और अरस्तू बड़ी दृढ़ता से अपने हाथ से अपने पैरों तले की धरती की ओर संकेत कर रहे हैं ।

पश्चिम में विशेषत: दूसरे विश्व-युद्ध के बाद ऐसी एकात्मता के प्रति अभिरुचि और सराहना का भाव विकसित होने लगा है । इस युद्ध-काल में युद्ध-नेताओं ने एक अन्तरशास्त्रीय दृष्टिकोण की वांछनीयता को अनुभव किया । किन्तु कैसा विरोधाभास है कि हीन भावना से ग्रस्त और पश्चिम की चकाचौंध से त्रस्त हिन्दू बुद्धिजीवी को अनायास अपनी पहचान (अस्मिता) गँवाने का शौक चर्राया है! वह अपनी संस्कृति से नाता तोड़कर परायी संस्कृति से नाता जोड़ने लगा है । (हाल में ही ऐसी दासता के विरुद्ध विद्रोह भी देखने में आया है ।)

बहुत पहले ही आर्नोल्ड टॉयनबी (Arnold J. Toynbee) ने कह दिया था : “ऊपर से तो ऐसा लगता है कि जिन हिन्दुओं ने प्रौद्योगिकी तथा विज्ञान, भाषा तथा साहित्य, प्रशासन तथा विधि (कानून) के स्तरों पर अपने लिए एक अति परायी पश्चिमी संस्कृति को अंगीकार कर लिया है, वे रूसियों की अपेक्षा अधिक सफल रहे हैं । उन्होंने रूसियों की तुलना में अपने लिए मूलत: कहीं अधिक परायी पश्चिमी जीवन-शैली का अपनी

स्वदेशी जीवन-शैली के साथ समन्वय कर लिया है । फिर भी हिन्दू मानस में अत्यधिक तनाव अवश्य होगा और देर-सबेर उस तनाव को दूर करने के लिए उसे स्वयं कोई मार्ग खोजना ही होगा ।" टॉयन्बी के अनुसार पश्चिमी जीवन-शैली ग्रीक-रोमन-यहूदी परम्परा की ही अंशज और वंशज है । यह समूची सांस्कृतिक परम्परा हिदुत्व के लिए अति परायी है । अत: देर-सबेर अपव्ययी पुत्र की वापसी होगी ही । किन्तु इस बीच इन सम्मोहित हिन्दुओं की आत्मविस्मृति के लिए राष्ट्र को भारी मूल्य चुकाना पड़ रहा है । इस तथ्य के कारण राष्ट्रीय जीवन के हर क्षेत्र में अभूतपूर्व क्षति हो रही है । कला का क्षेत्र भी इसका अपवाद नहीं है ।

संकल्पना का संभ्रम

जनमानस में कला की कोई स्पष्ट तथा सुबोध संकल्पना नहीं है । आडम्बरपूर्ण बुद्धिजीवित्व की मनोवृत्ति, जो विभेदीकरण की पश्चिमी प्रवृति की ही देन है, जनमानस पर छायी हुई है, यथा, बुद्धिवादियों की कला दीर्घाएं केवल वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकारिता, संगीत आदि की तड़क-भड़क वाली चिकनी-चुपड़ी कलाओं के लिए ही सुरक्षित रहती हैं । कौन जानता है कि उन वास्तविक कलाकारों का क्या स्थान है जिन्हें समूचे ताने-बाने में व्यावहारिक सुविधा के लिए 'कारीगर' अथवा 'शिल्पी' (या 'दस्तकार') कहा जाता है । 'विश्वकर्मा' समूचे सृजन-कर्म के राष्ट्रीय देवता हैं । क्या उनके 'सपूत' कला के पावन मंदिर में प्रवेश कर सकते हैं? हाल ही में 'दस्तकार' ने कोची में परम्परागत शिल्प-कृतियों की प्रदर्शनी का आयोजन किया । वहाँ देश भर से परम्परागत शैली के ४० के लगभग शिल्पकार आये और उन्होंने अपनी कृतियों का प्रदर्शन किया । उन्हें देखकर केरल के परिष्कृत रुचिवाले कला-प्रेमी ठगे से रह गये । उड़ीसा की 'पट्टा' चित्रकारी विशेष आकर्षण का केन्द्र बनी । पुरी में जगन्नाथ मंदिर में बसे 'पट्टा' चित्रकारों की पीढ़ी दर पीढ़ी चलने वाली साधना की लम्बी परम्परा है । क्या उन्हें 'कलाकारों' की श्रेणी में केवल इसलिए नहीं रखा जाना चाहिए कि वे बनावटी परिष्कृत रुचि वाले नहीं हैं? अथवा इसलिए कि उनकी कलाकृतियाँ 'उपयोगी' तो हैं, पर उत्कृष्ट नहीं? मात्र प्राविधिक अथवा विद्वत् स्तरीय आधारों पर ऐसी किसी 'अव्याप्ति' से न केवल इन साधकों के बल्कि समूचे देश के हित पर कुठाराघात होगा । इसका अर्थ होगा कि हम

ललित कलाओं की उस समृद्ध तथा वैभवपूर्ण परम्परा से वंचित रह जायेंगे जिसकी सराहना विदेशियों ने भी सच्चे हृदय से की है । यथा, देखिए विल डूरैंट के उद्गार :

“प्लासी (के युद्ध) से पूर्व अर्थात् ब्रिटिश-पूर्व भारत में प्रत्येक परिपक्व कारीगर शिल्पी था और वह अपने कौशल तथा अभिरुचि की कृति को रूप और व्यक्तित्व प्रदान करता था । आज भी, जब हस्तशिल्पों का स्थान कारखानों (फैक्टरियो) ने ले लिया है और शिल्पकार घटकर काम करने वाले 'हाथ' भर रह गये हैं, देखा जाता है कि हर हिन्दू नगर की स्टालों तथा दुकानों पर कारीगर बैठे मिलते हैं । वे धातु को ठोकते-पीटते, आभूषण आदि गढ़ते, आकल्पन (डिजाइन) तैयार करते, सूक्ष्म हृदयस्पर्शी कलायुक्त शालें, बुनते, कशीदाकारी करते और हाथीदाँत तथा लकड़ी पर कलात्मक उत्कीर्णन के कार्य में व्यस्त होते हैं । हमारी जानकारी में तो संभवत: ऐसा कोई अन्य देश नहीं है जिसके पास कभी भी कलाओं की ऐसी प्रचुर एवं समृद्ध विविधता रही हो ।”

डूरैंट के ही अनुसार : “यदि पात्र किसी अनमोल धातु से बनाया जाये तो उस पर कारीगरी को मुक्त हस्त से न्यौछावर किया ही जा सकता है, देखिए मद्रास के विक्टोरिया इन्स्टीट्यूट में चांदी के तंजौरी कलश को अथवा कैंडी की पान की स्वर्ण-तश्तरी को । पर पीतल को भी ठीक-पीटकर अगणित प्रकार के दीप, कटोरे तथा पात्र बनाये गये, जस्ते की काली मिश्र धातु (बीदरी) का उपयोग प्राय: संदूक, द्रोण (चिलमचियाँ) और ट्रे के लिए किया गया और एक धातु को दूसरी पर चढ़ाया गया अथवा उस पर सोने-चांदी का स्तर (मुलम्मा) चढ़ाया गया । लकड़ी पर प्रचुरता से पौधों तथा पशुओं की आकृतियाँ उत्कीर्ण (नक्काशी) की गयीं । हाथीदाँत को तराशकर देवमूर्तियों से लेकर धूत के पांसे तक बनाये गये, दरवाजों तथा लकड़ी की अन्य वस्तुओं मे उसे जड़ा गया और प्रसाधन की वस्तुओं तथा इत्रों को रखने के लिए उससे सुरुचिसम्पन्न पात्र बनाये गये । प्रचुर मात्रा में आभूषण बनाये गये और उन्हें धनवान तथा निर्धन दोनो ही पहनते थे अथवा संग्रह करते थे । सुनहरी पृष्ठभूमि पर मीनाकारी के रंगों की ज्वाला भड़काने में जयपुर निष्णात था । बकसुओं, मनकों, जुगनुओं (पेण्डेण्टो), चाकुओं और कंघों को फूलदार, जान्तव अथवा धर्मपरायण आकल्पनों वाली सुरुचिपूर्ण आकृतियों में ढाला जाता था । एक ब्राह्म जुगनू अपने नन्हे से कलेवर में एक सौ देवी-देवताओं को समेट लेता है । कपड़े की बुनाई की कारीगरी बेजोड़ थी । सीजर के काल से लेकर आधुनिक काल तक

सारे संसार ने भारतीय वस्त्रों को सराहा है । कभी-कभी तो अति सूक्ष्म तथा अति श्रमसाध्य पूर्व-आकलित माप द्वारा तानेबाने के हर धागे को रंगा जाता था और फिर उसे करघे पर चढ़ाया जाता था । जैसे-जैसे बुनाई होती जाती थी, आकल्पन डिजाइन प्रकट होता जाता था और वह दोनों ओर एक जैसा होता था । हाथ के कते तथा बुने खद्दर से लेकर सुनहरे तारों से झिलमिलाते जरी के वस्त्र तक, नयनाभिराम पायजामों से लेकर अदृश्य सीवनदार कश्मीर के शाल तक, भारत में बुना गया प्रत्येक वस्त्र ऐसी सुन्दरता से ओत-प्रोत होता है जो अति प्राचीन कला की देन है और अब जन्मजात नैसर्गिक कला सी लगती है ।"

संभवत: हमारे देश में कला का परम्परागत विस्तार कहीं अधिक व्यापक था । यह बात चौसठ कलाओं के परम्परागत परिगणन से स्पष्ट है ।

यह धारणा ठीक नहीं है कि कोई कला-विशेष किसी अन्य कला से बढ़कर है । एक संगीत-प्रेमी के यह पूछने पर कि कौन सी कला अन्य सबसे बढ़कर है, श्री अरविन्द ने उत्तर दिया, "क्या आप चाहते हैं कि मैं संगीत की देवी के सिर पर तो मुकुट पहना दूँ और चित्रकारिता, मूर्तिकला, वास्तुकला, फुलकारी की देवियों को-कला की नौ की नौ देवियों को - कुपित कर दूँ? वरीयता की आपकी कसौटी गलत है ।"

"प्रत्येक महान् कला की अपनी प्रेषणीयता (अपील) और प्रेषणीयता-पद्धति होती है और प्रत्येक अपने-अपने क्षेत्र में अन्य सबसे श्रेष्ठ है ।"

वे कहाँ स्थित हैं?

जहाँ यह सच है कि कलाओं के क्षेत्र में प्राय: घटिया तत्त्वों में पूर्णत: विश्वजनीन नहीं भी तो अधिक सामान्य प्रेषणीयता होती है, वहाँ यह भी एक तथ्य है कि हर देश में प्रादेशिक अथवा सामाजिक विकास के विभिन्न चरण होंगे ही और इसी विकास के अनुरूप कलात्मक विकास के भी विभिन्न स्तर होंगे । यथा, 'नाट्यम्' के प्रकरण को लें । भरत मुनि का 'नाट्यशास्त्र' भारतीय नाट्यकला के बारे में परस्पर जुड़े (संश्लिष्ट) विषयों का ग्रन्थ है । वह रंगमंच के सभी पक्षों, नृत्य के सभी तत्त्वों और संगीत के मूलाधारों का स्रोत-ग्रन्थ है । 'नाट्य' में इन तीनों पक्षों का समावेश है ।

भारतीय संगीत तथा नृत्य का प्राचीनतम ठोस प्रमाण ऋग्वेद में मिलता है । ऋग्वेद में गोलाकार में नृत्य करने वाले जोड़ों का उल्लेख है । संवादों के रूप में ऋचाओं, यथा- संगीत तथा नाटक के संदर्भ में सामवेद के सूक्तों की तो वैदिक साहित्य में भरमार है । संगीत, नृत्य तथा नाटक के प्रतिमान शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता में दिये गये हैं ।

इसमें संदेह नहीं कि तब से अब तक भारतीय नृत्य एक लम्बी यात्रा कर चुका है । भारतीय नृत्य की इस गौरवपूर्ण यात्रा के बारे में साहित्य का विपुल भंडार है । आधुनिक कृतियों में अधिक महत्त्वपूर्ण हैं : आनन्द कुमारस्वामी-कृत 'दि डांस आफ शिव' (The Dance of Shiva), डॉ० सी०पी० रामस्वामी अय्यर कृत 'दि आर्ट आफ डांस' (The Art of Dance), मृणालिनी साराभाई कृत 'दि सेक्रेड डांस ऑफ इंडिया' (The Sacred Dance of India), पी०के० शिवशंकर पिल्लै कृत 'ओरिजिन एंड डेवलेपमेंट आफ थुल्लाल' (Origin and devolopement of Thullal), दुर्गादास मुखोपाध्याय द्वारा संपादित 'लेसर नोन फार्म्स आफ पर्फामिंग आर्ट्स इन इंडिया' (Lesser Known Forms of Performing Arts in India), डॉ० कपिला वात्सायन कृत 'ट्रैडीशन्स आफ इंडियन फोक डांस' (Traditions of Indian Folk Dance) तथा के०एस० रामस्वामी शास्त्री कृत 'इंडियन डांस ऐज ए स्पिरिचुअल आर्ट' (Indian Dance as a spiritual Art) । यह साहित्य इस बात का साक्षी है कि भारतीय नृत्य अब तक भारी प्रगति कर चुका है ।

आधुनिक काल में इस कला के योग्य प्रतिपादक भी हुए हैं । यथा- उदयशंकर प्रथम भारतीय नृत्यकला-विशारद हैं जिन्होंने बिरजू महाराज के साथ भारतीय नृत्य-नाटक (बैले) प्रस्तुत किया । उन्होंने भारत को विश्व के सांस्कृतिक मानचित्र में स्थान दिलाया और विभिन्न पद्धतियों के संश्लेषण का प्रयास किया । कलामंडलम् के वेल्लतोल ने इरिञ्जलक्कुडा माधवन चक्यार जैसे कूडियाथम नर्तकों और कलामंडलम् कृष्णन नायर, रमण कुट्टी नायर तथा गोपी जैसे कथकली नर्तकों की कला को पुष्पित-पल्लवित किया; वेल्लाथुनाडु के राजा की गुणसम्पदा को कथकली का अन्तिम परिपूर्ण रूप दिया, जिन्होंने कोट्टारकारा के राजा के उस रामनट्टम् को सँवारकर परिष्कृत किया था जो स्वयं मानवेदन जमोरिन के कृष्णनट्टम् का उत्तराधिकारी कलारूप था । इसके

अतिरिक्त वेल्लतोल ने भास, कुलशेखर, वर्मन, श्रीहर्ष, महेन्द्रविक्रम पल्लव, बोधायन, शक्तिभद्र, कट्टायम राजा, महाराजा स्वाति तिरुनाल, उन्नयी वारियार और इरयिम्मन थम्पी की कृतियों के सौन्दर्य-बोध को साकार रूप प्रदान किया ।

रुक्मिणी देवी ने नृत्य में पुन: नवजीवन का संचार किया ।

आब प्रदेश की यामिनी कृष्णमूर्ति, शोभा नायडू तथा रानी कर्ण ने कुचीपुड़ी को प्रसिद्धि के शिखर पर पहुँचाया ।

तमिलनाडु की डॉ० पद्मा सुब्रह्मण्यन तथा वैजयन्तीमाला ने भरतनाट्यम को गौरव प्रदान किया । कल्याणीकुट्टी अम्मा ने मोहिनीअट्टम के यश में वृद्धि की । ऐसे ही कुछ अन्य प्रख्यात कलाकार हैं कथक की तारा चौधरी तथा सितारा देवी, मणिपुरी की दर्शा जावेरी, ओडिसी की सोनल मानसिंह तथा अन्य अनेक कलारत्न ।

इस कला का यह एक मान्य स्तर है । किन्तु यही सब कुछ नहीं है । जैसा कि हम सब जानते ही हैं, आज विशेषत: देश के उत्तरी भागों के नगरीय क्षेत्रों में पश्चिमी संगीत से कहीं अधिक लोकप्रिय पश्चिमी नृत्य होता जा रहा है । प्रत्येक कला को अपने क्षेत्र में सिद्धान्तहीन नौसिखियों तथा पाखंडियों के प्रवेश के कारण स्तर में गिरावट का कुफल भोगना पड़ता है । आज जो प्रभाव पनपता जा रहा है वह पश्चिमी नृत्य की अधिक परिष्कृत शैली अर्थात् बैले या अन्ना पावलोवा की कला का नहीं है । वह तो प्राय: उसकी ओछी तथा कभी-कभी अश्लील शैली का प्रभाव है । यह गम्भीर चिन्ता का विषय होना चाहिए, क्योंकि आशुप्रभाव वाले कच्चे मानस पर उसका सीधा तथा हानिकर प्रभाव पड़ता है । सच्ची कला में इन लोगों की कोई अभिरुचि नहीं होती । नाट्यवेद अथवा नाट्यशास्त्र के लिए उनके पास धैर्य नहीं है । बिरजू महाराज अथवा उदयशंकर बनने के लिए वे तपस्या नहीं करना चाहते । वे कला के सच्चे पुजारी नहीं होते, वे तो कलाकार होने का ढोंग करते हैं ।

सौभाग्यवश यह महामारी केवल नगरीय क्षेत्रों तक सीमित है ।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि एक ही समाज में एक ही कालावधि में विकास के विभिन्न स्तर होते हैं ।

इधर कुछ समय से सार्वजनिक नेता परिगणित वनवासी जनजातियों की ओर अधिक ध्यान दे रहे हैं । उनके ध्यान में यह बात आयी है कि विभिन्न प्रदेशों की हमारी वनवासी जनजातियों ने नृत्य तथा संगीत की अपनी अनोखी शैलियों का विकास किया है । इन सभी शैलियों के नाम गिनाना तो असंभव होगा । प्रत्येक जनजाति की नृत्य की अपनी शैलियाँ तथा जनजाति से इतर ग्रामीणों के लोकनृत्यों की भी विविध शैलियाँ हैं । दोनों ही लोकनृत्य-शैलियाँ हैं । ऐसे लोकनृत्य भी होते हैं जो दैनिक जीवन, रीति-रिवाजों और आस्था-पद्धतियों के प्रसंगों को प्रस्तुत करते हैं । उन्हें सामाजिक उत्सवों पर-यथा विवाह, शिशु-जन्म, कृषि-कार्यों, ऋतु, परिवर्तनों, मेलों, त्यौहारों अथवा धार्मिक पर्वों पर - प्रस्तुत किया जाता है । सभी लोकनृत्यों के साथ समुचित संगीत होता है, यथा कपोत नृत्य, पतंग नृत्य, कुंभ नृत्य, थाली नृत्य तथा सर्प नृत्य में प्रयुक्त संगीत । प्रत्येक जनजाति की अपनी अलग कई प्रकार की शैलियाँ होती हैं । गोंड जाति के लोगों की 'झूमर', 'सैला', 'रिना' शैलियाँ हैं और 'कर्मा' तथा 'चैत्र' उत्सव के नृत्य । प्रत्येक प्रान्त के भी अपने विशेष प्रकार के नृत्य होते हैं, यथा, राजस्थान में सिद्ध जाटों का 'कच्ची घोड़ी', 'गीदड़' तथा अग्नि-नृत्य; कमार जनजाति का 'तेरा ताली', गरसिया जनजाति का 'वलार', भीलों का 'ढोली', 'गौरी' और 'घूमर'; मीणा जनजाति का 'घेर' तथा रैका', 'झोरिया' आदि । विभित्र राज्यों के कुछ नृत्यों का यथा गुजरात के 'गर्बा', और पंजाब के 'भांगड़ा' का अधिक प्रचार हुआ है । किन्तु उसका यह अर्थ नहीं है कि इन राज्यों की अन्य शैलियाँ नहीं हैं । कर्नाटक के 'यक्षगान' तथा तमिलनाडु के 'थेरुक्कुटु' नुक्कड़ नाटक सुविख्यात हैं । किन्तु अन्य राज्य भी नुक्कड़ नाटकों की अपनी शैलियों का बखान कर सकते हैं ।

वास्तव में समग्रत: यह एक अति मनोहर और प्रभावकारी सतरंगी दृश्य है ।

किन्तु यह नितांत स्पष्ट है कि कहाँ गाँवों तथा कस्बों की गलियाँ और कहाँ महानगरों की अत्याधुनिक भव्य रंगशालाएं (theater) । यह एक बड़ी लम्बी छलांग हे । इन दो ध्रुवों के बीच अनेक स्तर तथा चरण हैं ।

प्रश्न उठता है कि ग्राम्य स्तर पर कार्यरत इन सभी कलाकारों को गर्वोन्नत ग्रीवा वाले हमारे विद्वान, जो इस क्षेत्र के मान्यता-प्राप्त आकलनकर्ता हैं, क्या स्थान देंगे? हमारी परम्परागत कसौटी इन आकलनकर्ताओं की कसौटी से भिन्न थी । इन लोगों की आँखें

तो आडम्बरपूर्ण तड़क-भड़क की चकाचौंध से चौंधिया गयी हैं । पहले तो कसौटी यह थी कि उन्हीं व्यक्तियों को 'कलाकारों' के प्रतिष्ठित वर्ग में स्थान दिया जाये जिन्होंने सच्ची लगन से कठिन 'साधना' की हो । आज इन सच्चे कलाकारों की स्थिति क्या होगी?

अभिप्रेरणा

हिन्दू कला के क्षेत्र में पश्चिमीकरण का सबसे बड़ा घातक कुप्रभाव यह पड़ा है कि कलाकारों, कलाप्रेमियों तथा कलाप्रबंधकों की अभिप्रेरणा में घोर अथवा प्रति-क्रान्तिकारी (?) परिवर्तन आ गया है । समस्त हिन्दू कला की उत्पत्ति अद्वैत परम सत्ता की अनुभूति से हुई है, उसी के प्रति वह समर्पित है और वही उसके लिए पूर्णता प्रदान करने वाला परम ध्येय है । यही तथ्य उसे विशिष्टता प्रदान करता है । अजन्ता के बारे में विल डूरैंट का यह विचार समूची हिन्दू कलाओं के सामान्य स्वरूप को दर्शाता है : "यहाँ अजन्ता में धार्मिक भक्तिभाव वास्तुकला, मूर्तिकला और चित्रकला के कण-कण में व्याप्त होकर उनका ऐसा सुखद संगम हुआ है जिसने हिन्दू कला के अति उत्तम स्मारक को जन्म दिया है ।" पुनश्च, "शिव स्वयं नृत्य के देवता हैं और शिव का नृत्य संसार की समूची गतिविधि का प्रतीक है । न्यूयार्क के थियेटर में नृत्य प्रस्तुत करने वाले, व्यवसायी वृत्ति वाले नर्तक को यह जानकर आश्चर्य होगा कि नृत्य, नाटक तथा संगीत के समामेलन से निर्मित उसके पूर्वजों का 'नाट्यम्' परमानंद 'मोक्ष' की प्राप्ति के ध्येय से प्रेरित था । अतीत के सच्चे कलाकारों का एकमात्र लक्ष्य यही था कि वे पूर्ण एकाग्रता से जीवन भर कला की 'साधना' करते रहें । एक सच्चा कलाकार अपने निजी कलात्मक व्यक्तित्व से कहीं ऊँचे लक्ष्य का माध्यम और साधन होता है । वह तीव्र संवेग के साथ तपस्या करता है और अपने आंतरिक तथा बाह्य निरीक्षण, प्रेक्षण तथा अनुभव के त्रिवेणी संगम से एक नये संसार की सृष्टि करता है । जहाँ तक अनुभूति की तीव्रता या तप का संबंध है, यह उल्लेखनीय है कि अपने अंतिम दिनों में मिल्टन प्रतिदिन पचास और विर्जिल केवल नौ पंक्तियाँ लिखा करते थे । 'सावित्री' एक बार में नहीं, बारह बार लिखी गयी । कष्ट और चुनौतियाँ उसके संवेग में तीव्र निखार लाती हैं । जब 'बीथोवेन' बहरे तथा मिल्टन अंधे हो गये, तभी हमें उनकी प्रतिभा का सर्वश्रेष्ठ प्रतिफल देखने को

मिला । जब विरह की पीड़ा अपनी पराकाष्ठा पर पहुँची, तभी मीरा के हृदय से अति रोमांचकारी गीतों के निर्झर फूटे । मृत्यु की काली छाया में जान बुनयान (John Bunyan) ने अपनी 'पिल्ग्रिम्स प्रोग्रेस'(The Pilgrim’s Progress), सावरकर ने 'कमला' और रामप्रसाद बिस्मिल ने अपनी 'सरफरोशी' की तमन्ना पूरी की । ऐसी तीव्र तपस्या तो केवल कोई सच्चा 'साधक' ही कर सकता है । जब एक अहम्मन्य ड्यूचेस ने लियोनार्डो द विन्सी से पूछा कि अपनी श्रेष्ठ कृति को पूरा करने में उन्हें कितना समय लगा तो विन्सी ने उत्तर दिया- 'इकसठ वर्ष, मदाम' । जब माइकल एंजेलो को बताया गया कि हाल ही में अपने चित्र में उन्होंने जो भी परिवर्तन किये, वे सबके सब साधारण से तो थे, तब उन्होंने झुँझलाकर कहा, “इन परिवर्तनों में से प्रत्येक साधारण हो सकता है, किन्तु इन सभी साधारण परिवर्तनों का सपूर्ण योगफल साधारण नहीं है, वह तो कुछ असाधारण है ।”

आदर्श स्थिति में कला ओर कलाकार एकाकार हो जाते हैं । डब्ल्यू. बी. यीट्स पूछते हैं, “नृत्य से हम नर्तक की पहचान कैसे कर सकते हैं?“ इलियट तो इससे भी परे चले जाते हैं, “..... .ओर वहाँ केवल नृत्य रह जाता है ।” केवल यह प्रकार ही 'कलाकारों' की सम्माननीय श्रेणी में स्थान पाने का दावा कर सकता है । यह भेद किया ही जाना चाहिए कि 'साधना' व्यवसाय नहीं होती और सच्चा कलाकार व्यवसायी नहीं होता ।

दुर्भाग्यवश इस क्षेत्र पर उपयोगितावाद छा गया है ।

अब यह वृत्ति सी हो गयी है कि कला के सौंदर्य पक्ष की उपेक्षा करके उसके वाणिज्यिक पक्ष को अत्यधिक महत्त्व दिया जाये । सच्ची 'साधना' से कहीं अधिक संगत जो सब बातें होती जा रही हैं वे हैं - रंगमंच, वेशभूषा तथा साथी कलाकारों के लिए पर्याप्त वित्तीय संसाधनों की व्यवस्था, प्रचार-प्रसार तथा छवि-निर्माण के लिए प्रचार-माध्यमों से समुचित सम्पर्क तथा कलाकारों को संरक्षण प्रदान करने वाली सरकारी एजेंसियों तक पहुँच । इने-गिने कला-छात्र ही ऐसे होते हैं जो कला के मूल तत्त्वों को ग्रहण करने का प्रयास करते हैं और आत्मज्ञान तथा आत्मपरितोष के लिए ज्ञान-प्राप्ति की कामना करते हैं । पहले कला-छात्र समर्पित गुरुओं के चरणों में बैठकर कठोर प्रशिक्षण प्राप्त करते थे । आज यदि उन गुरुओं के पद-चिह्नों पर चला जाये तो कला-संस्थानों के लिए

जीना दूभर हो जायेगा । पुनश्च, आज ऐसे गुरुओं की माँग भी नहीं है, क्योंकि प्रत्येक किशोर इस हड़बड़ी में है कि जितने शीघ्र हो सके, रेडियो या दूरदर्शन में घुस जाये ।

कला-संवर्धन में जुटे संगठन मनोरंजन-पक्ष की अधिक चिन्ता करते हैं । श्रोता या दर्शक यदा-कदा आते हैं और उनमें सच्चा भाव या समुचित प्रशिक्षण नहीं होता । कला-प्रेमियों (कला-मर्मज्ञ) के पास परिष्कृत मूल्यांकन एवं सराहना के लिए आवश्यक अवकाश के क्षण या धैर्य नहीं होता । औद्योगिक सभ्यता के इस युग में कला के क्षेत्र में जुटे लोगों के पास समय का अकाल है और कला को चाहिए मन की स्थिरता, शांति और मानसिक तथा शारीरिक ऊर्जा का भंडार । धन और यश की लोलुपता अति प्रबल है । इसी से विज्ञापन-एजेंसियों का महत्त्व हो गया हे । कला-प्रबंधकों का बोलबाला है । वे छल, बल, कौशल से कलाकारों तथा कलाप्रेमियों को जिधर चाहें मोड़ सकते हैं ।

अत: वाणिज्यिक कला सच्ची कला को धकिया रही है । हम तेजी से अति साधारणता के विनाशकारी गड्ढे की ओर बढ़ रहे हैं । यदि तुरंत इस वृत्ति पर अंकुश नहीं लगाया गया तो कला के क्षेत्र में हम रसातल में चले जायेंगे । प्रत्यक्षत: यह असंभव कार्य है । इसे संभव तभी बनाया जा सकता है जब हिदुत्व की मूल भावना की पुन: प्रतिष्ठा की जाये । यही 'संस्कार-भारती' का ध्येय है । और इसी के लिए उसे प्रारंभ से प्रारंभ करना है ।

“पुनश्च हरि: ओ३म" ।

वस्तुत: कला है क्या?

'कला'

जब 'संस्कार भारती' कला की चर्चा करती है तो निश्चय ही पाश्चिमात्य अथवा हमारे देश में उनके शिविर के अनुयायी पूछेंगे कि संस्कार भारती की 'कला' की परिभाषा क्या है । एक अवसर पर गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने पश्चिमी श्रोताओं के सम्मुख 'कला' की परिभाषा करने से इंकार कर दिया । उसके स्थान पर उन्होंने उसके क्रियात्मक पक्ष को स्पष्ट किया । क्या उनका यह विचार रहा होगा कि 'कला' संबंधी हमारी संकल्पना तथा उसके प्रति हमारे दृष्टिकोण को पाश्चिमात्य नहीं समझ पायेंगे क्योंकि उनका विशिष्ट

मानसिक साँचा हमसे भिन्न है? फिर भी उन्होंने बड़े यत्न से उसके क्रियात्मक पक्ष को समझाने का प्रयास किया ।

'कला क्या है?' से संबंधित चर्चाएं उस क्षेत्र में चेतन प्रयोजन के तत्त्वों का सूत्रपात करती हैं जहाँ सृजन तथा आनंदानुभूति की हमारी दोनों ही क्षमताएं स्वतःप्रसूत तथा अर्द्धचेतन रही हैं । उनका लक्ष्य होता है कि वे हमारे सामने ऐसे निश्चित प्रतिमान प्रस्तुत करें जो कला-कृतियों के संबंध में हमारे निर्णयों का मार्गदर्शन कर सकें । अत: हमने आधुनिककाल में निर्णायिकों को अपने बनाये हुए किन्हीं विशेष नियमों के अनुसार निर्णय देते हुए सुना है । उनके कारण ऐसी अमर कृतियों को सिंहासन से उतार दिया जाता है जो सदियों तक निर्विवाद रही हैं । कसौटी क्या है? क्या कलाकृतियों का मूल्यांकन इस आधार पर किया जाये कि वे कहाँ तक विश्वजनीन रूप से समझी जाती हैं या वे कहाँ तक जीवन की अपनी दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत करती हैं या वे कहाँ तक सामयिक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करती हैं या वे कहाँ तक किसी ऐसी बात को अभिव्यक्त करती हैं जो कलाकार के अपने देशवासियों की प्रकृति से निजत्व रखती हैं?

आनंदानुभूति साहित्य और कला दोनों की ही आत्मा है । विश्लेषण करने पर उसके सतरंगे सप्तक्रम में उसके समूचे भिन्न नक्षत्र-जगत् में व्याप्त विभिन्न रंगों तथा तीव्रता की असंख्य किरणमालाओं को झिलमिलाते हुए देखा जा सकता है । मानव के पास ऐसी भावनात्मक ऊर्जा का भंडार है जो पूर्णत: उसकी आत्मरक्षा में नहीं खप पाती । यह अतिरेक या अधिशेष कला-सृजन के रूप में अपना मार्ग खोजने का प्रयास करता है, क्योंकि मानव की सभ्यता उसके अधिशेष के आधार पर खड़ी है ।

कला में मानव स्वयं को अभिव्यक्त करता है, अपने पदार्थों को नहीं । उसके पदार्थों को तो स्थान सूचना तथा विज्ञान की पुस्तकों में मिलता है जहाँ उसे स्वयं को पूर्णतया छिपाना पड़ता है ।

वे प्रमुख सृजनात्मक शक्तियाँ जो वस्तुओं को हमारी जीवन्त संरचना में रूपान्तरित करती हैं, भावनात्मक शक्तियाँ होती हैं ।

यह जगत् पूर्णतया हमारा अपना हो जाता है जब वह हमारे मनोभावों की परिधि में आ जाता है । जब हमारी घृणा और प्रेम, सुख और दु:ख, भय और आश्चर्य निरंतर उस पर प्रभाव डालते हैं तो यह जगत् हमारे व्यक्तित्व का अभिन्न अंग हो जाता है ।

सूर्योदय का तथ्य नहीं प्रत्युत् हमसे उसका जो संबंध है, वह शाश्वत रुचि का विषय होता है ।

जो वस्तुएं हमारे मनोभावों को उद्दीप्त करती हैं, वे हमारी अपनी स्वानुभूति को भी उद्दीप्त करती हैं । कलाकार अपने कथ्य को केवल सूचना देकर और स्पष्ट करके अभिव्यक्त नहीं कर सकता । जब मुझे कहना होता है कि मैं गुलाब के बारे में क्या जानता हूँ तो सरलतम भाषा की आवश्यकता होती है, पर जब मुझे कहना होता है कि मैं गुलाब के बारे में क्या अनुभव करता हूँ तो स्थिति भिन्न होती है । तब तथ्यों अथवा नियमों से उसका कोई संबंध नहीं होता । उसका संबध रूप और सुगन्ध से होता है और उसकी अनुभूति केवल देख और सूँघकर ही की जा सकती है ।

काव्य में हमें समुचित सुरुचिसम्पन्न शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है । वे न केवल बोल उठते हैं बल्कि चित्र प्रस्तुत करते हैं और गाते हैं । चित्र और गीत तथ्य मात्र नहीं होते, वे व्यक्तिगत तथ्य होते हैं ।

वे केवल अपने तक सीमित नहीं रहते अपितु हमारे अंग भी बन जाते हैं । वे विशेषण के बंधन में नहीं पड़ते और तुरन्त हमारे हृदय को छू लेते हैं । जब हमारा हृदय प्रेम अथवा अन्य प्रमुख भावों में पूर्णत: विभोर हो जाता है तो हमारा व्यक्तित्व उससे आप्लावित हो जाता है । तब वह अभिव्यक्ति की पीड़ा से विवश होकर स्वयं को अभिव्यक्त करने के किए छटपटाने लगता है । तब कला का जन्म होता है और हम आवश्यकता के दावों और उपयोगिता के प्रलाप को भूल जाते हैं । हमारे मंदिरों के कलश सितारों को चूमने का और हमारे संगीत के सुमधुर स्वर अनिवर्चनीय की गहराई को मापने का प्रयास करने लगते हैं ।

उपयोगिता और आत्माभिव्यक्ति की दो समानान्तर पटरियों पर चलने वाली मानव की ऊर्जाएँ आपस में मिलने और घुलने लगती हैं ।

हमारे जीवन का एक पक्ष सीमाओं से घिरा है । वहाँ हम स्वयं को पग-पग पर व्यय (क्षय) करते जाते हैं । हमारे जीवन का एक दूसरा पक्ष भी है जहाँ हमारी कामना, आनंदानुभूति और त्याग असीम है । मानव के इस असीम पक्ष की अभिव्यक्ति किन्हीं ऐसे प्रतीकों के रूप में होनी ही चाहिए जिनमें अमरत्व के तत्व हों । स्वाभाविक है कि वहाँ वह सर्वांगपूर्णता का प्रयास करेगी ।

मानव के सच्चे संसार का, सत्यम्, शिवम्, सुंदरम् के जीवमान (चिन्मय) संसार का सृजन ही कला का धर्म, कर्म एवं मर्म है ।

सत्य का विराट् पुरुष से शाश्वत संबंध है । सौंदर्य केवल तथ्य नहीं है, उसका आकलन नहीं हो सकता, उसका सर्वेक्षण और प्रमापन नहीं हो सकता । वह तो अभिव्यक्ति है ।

धुंध और कोहरे से ढके इन विशाल प्रदेशों में कला अपने ऐसे नक्षत्रों का सृजन कर रही है जो अपने आकार में तो ससीम हैं, पर अपने व्यक्तित्व में असीम हैं ।

कला में हमारे भीतर बैठा व्यक्ति अपने उत्तर विराट् परम पुरुष को भेज रहा है और परम पुरुष तथ्यों के प्रकाशहीन संसार के आरपार अनन्त सौंदर्य के संसार के रूप में स्वयं को हमारे सामने प्रकट कर रहा है ।

संभवत: गुरुदेव की यह आशंका ठीक ही थी कि इस विषय विशेष में उनके श्रोताओं की जन्मजात अक्षमता थी ।

जैसा कि श्री अरविन्द ने कहा है :

भारतीय कलात्मक सृजन का समूचा आधार प्रत्यक्षत: आध्यात्मिक तथा अर्न्तदर्शी है और वह बुद्धि की तुलना में प्रत्यक्ष अनुभूति-पद्धति की अथाह श्रेष्ठता को दर्शाता है ।

विज्ञान के बारे में लियोनार्दो द विन्सी की उल्लेखनीय सहज अन्तरानुभूतियाँ तथा कला के बारे में उनकी सृजनात्मक सहज अन्तरानुभूतियाँ एक ही शक्ति से प्रस्फुटित हुईं, परन्तु परिवेशीय अथवा गौण मानसिक प्रक्रियाएं भिन्न रंग-रूप की थीं । स्वयं कला में भी विभिन्न प्रकार की सहज अन्तरानुभूतियाँ हैं । (शेक्सपियर, बाल्जाक अथवा इब्सन की सहज अनुभूतियाँ)

स्वाभाविक पश्चिमी मानसिकता भारतीय कला से कुछ ऐसी वस्तु की मांग करती है जो भारतीय कला की अनोखी भावना और प्रेरणा के उद्देश्य से भिन्न है । यह माँग करते हुए स्वयं वह एक अन्य प्रकार की आध्यात्मिक अनुभूति, सृजन-दृष्टि, कल्पनाशक्ति तथा अभिव्यंजना-शैली के क्षेत्र में पदार्पण करने के लिए तैयार नहीं है ।

वास्तव में समस्त महान् कला का उद्गम अन्तरानुभूति से होता है, बुद्धि अथवा कल्पना की किसी अद्भुत उड़ान से नहीं । ये केवल मानसिक रूपान्तर होते हैं परन्तु इनके पीछे जीवन अथवा अस्तित्व के किसी सत्य की, उस सत्य के किसी महत्त्वपूर्ण रूप की, मानव मन में उसके किसी विकास की सीधी सहज अनुभूति होती है । अभी तक महान् यूरोपीय तथा महान् भारतीय सृजन में कोई अन्तर नहीं है । तो भारी अन्तर कहाँ से प्राप्त होता है? यह अन्तर हर अन्य वस्तु में है । अन्तर सहज अनुभूति के (अन्तरानुभूति) के विषय और क्षेत्र में हैं, अन्तर दृष्टि अथवा संकेत को साकार करने की शैली में है, अन्तर प्रस्तुतिकरण में बाह्य रूप और विधा की भूमिका में है, अन्तर मानव मन के लिए प्रस्तुतिकरण की समूची शैली में तथा हमारे अस्तित्व के केन्द्र में है जिसे सृजन भाता है ।

प्राचीन भारतीय कला का सिद्धान्त अन्य प्रकार का है । वह अपने सर्वोच्च से भी सर्वोच्च स्तर पर अपना स्वरूप शेष को दे देती है और अपने प्रभाव की कुछ छाप उस पर छोड़ देती है । उसका सर्वोच्च उद्देश्य यह है कि वह आत्म-प्रकटन के संदर्भ में आत्म, असीम, दिव्य को - अपनी अभिव्यंजना के द्वारा 'आत्म' को, अपने साकार ससीम प्रतीकों के द्वारा असीम को, अपनी शक्तियों के द्वारा दिव्य को - कुछ अभिव्यक्ति प्रदान करे । ऐसा नहीं है कि समस्त भारतीय सृजन ने इस आदर्श को प्राप्त कर लिया । निस्संदेह ऐसा बहुत सा सृजन है जो घटिया स्तर का, प्रभावशून्य तथा भ्रष्ट भी है । किन्तु यह सर्वोत्तम तथा अति विशिष्ट निष्पादन है जो कला को अपनी स्वर-शैली प्रदान करता है और उसी दृष्टि से ही हमें मूल्यांकन करना चाहिए । वस्तुत: भारतीय कला का भी वैसा ही आध्यात्मिक लक्ष्य तथा सिद्धान्त है जैसा कि शेष भारतीय संस्कृति का है । यह एक अन्तर्दर्शी तथा आध्यात्मिक कला है और उसे अन्तर्दर्शी तथा आध्यात्मिक दृष्टि से ही देखा जाना चाहिए ।

परिदृश्य

किसी हिन्दू द्वारा हिन्दू कलाओं तथा हिन्दू सौन्दर्य-बोध के आकलन तथा मूल्यांकन को पूर्णतया आत्मपरक माना जा सकता है । इन विषयों के बारे में भारत में भगिनी निवेदिता के नाम से विख्यात सुश्री मार्ग्रेट नोबल की प्रति-क्रिया को अधिक निष्पक्ष माना जायेगा । अत: इस विषय पर उनके कतिपय उद्गार अधिक उपयुक्त तथा ज्ञानवर्धक होंगे :

"चित्तौड़ केवल कालक्रमिक अभिलेख नहीं है, वह शाश्वत प्रतीक है, वह भारतीय प्रतिभा के एक कालखंड के हृदय का हृदय है ।"

"चिरकाल तक, जब तक धरती धरती रहेगी, एलोरा एक ऐसा स्थान होगा जहाँ परमात्मा का रहस्य मानव आत्माओं पर प्रचुरतम मात्रा में प्रस्फुटित हुआ है, चाहे वे किसी भी समूह के हों, चाहे उनका पंथ जो भी हो ।"

"किसी विशाल आर्गन (वाद्ययंत्र) की वक्ताओं तथा स्तंभों की भाँति अजन्ता की घाटी में सूर्याभिमुखी पर्वतीय क्षेत्र के साथ-साथ पत्थर के तोरणों तथा स्तंभों की श्रृंखला फैली हुई है ।"

"सभी देशों में भिक्षु ने वंशानुक्रम के स्थान पर भवनों के द्वारा स्वयं को अविस्मरणीय बना लिया है । भारत में इन्हें अधिकांशत: तराशा गया है, जैसी कि स्थिति दक्षिण में महाबलीपुरम् में है अथवा निर्माण न करके उन्हें खोदकर उभारा गया है, जैसी कि स्थिति एलोरा तथा अन्यत्र है । किन्तु भावना में कोई अन्तर नहीं है ।"

"यहाँ इन सुरम्य साधना-स्थलों में-क्योंकि वे सब के सब नैसर्गिक सौन्दर्य के मध्य में स्थित हैं-उस विचारधारा तथा ज्ञान, मौन चिन्तन, मनन की शक्ति को पल्लवित किया गया जिसने भारत को वह रूप प्रदान किया जिस रूप में आज हम उसे जानते हैं । यहाँ उन स्वप्नों को संजोया गया जिनका प्रतिबिम्ब समाज पर पड़ा और वे उन युगों के सामाजिक आदर्श बने जिनमें हम रहते हैं ।" "यह निश्चित है कि तीर्थयात्रा की पवित्रता में स्थान का, कला का और भौगोलिक महत्त्व का भी गुणगान निहित है ।"

"भारतीय अन्तश्चेतना के लिए स्थान का सौन्दर्य स्वयं ऐसा रूप धारण कर लेता है मानो वह आत्मा के लिए परमात्मा की पुकार हो । यदि नियाग्रा गंगातट पर स्थित होता तो इस बात की कल्पना भी बड़ी विचित्र सी लगती है कि मानवता उसका कितना भिन्न

मूल्यांकन करती । फैशनेबल पिकनिकों तथा मौज-मस्ती के लिए रेलयात्रियों के स्थान पर वहाँ तीर्थयात्रियों की वार्षिक या मासिक यात्रा होती । होटलों के स्थान पर मंदिर होते । प्रदर्शनपूर्ण असंयम के स्थान पर संयम होता । मानवीय उपयोगिता के रथ में उसके शक्तिशाली अश्वों को जोतने की कामना के स्थान पर शरीर का मोह त्यागकर, उससे ऊपर उठकर, सर्वोच्च सत्ता से मिलन के हर्षोन्माद-प्राप्ति की अदम्य इच्छा होती ।"

"पश्चिमी हिमालय की उत्तुंग पर्वतमालाओं में लद्दाख की सीमाओं के निकट है लम्बी सँकरी हिमानी घाटी और उसी में है अमरनाथ की जगत्प्रसिद्ध गुफा । उनकी गगनचुम्बी ऊँचाइयों के विस्मयकारी विराट् वैभव तथा सौन्दर्य का वे (यात्रीगण) परम प्रभु के उपयुक्त धाम के रूप में सदा-सर्वदा स्मरण करते रहेंगे । ईसाइयों को लगेगा मानो वे चर्च में हैं । वहाँ की चट्टानें और हिमनद पुष्य-स्थल के अंग हैं । बर्फीले दर्रे स्तंभों पर खड़े गलियारे हैं । उनके पीछे खड़े हैं हाथ में पताकाएं लिये गायकवृन्दों के जुलूसों के प्रतीक चीड़-देवदार के जंगल और स्वयं ऊपर का आकाश है धर्ममठ की छत । पौर्वात्यों की यही विशेषता है कि वे समूची प्रकृति पर उस भावना को आरोपित करते हैं जिसे हम केवल पूजा-स्थल के साथ ही जोड़ते हें ।"

कलाकारों से निवेदन

"हिन्दू धर्म का एक पक्ष यह है कि वह न्यूनाधिक प्रतीकवाद का महाविद्यालय है । इसके अतिरिक्त इस प्रतीकवाद की प्रेषणीयता (अपील) वसुधैव कुटुम्बकम् की है । इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि भाषा कौन-सी है, पाठक पढ़ा-लिखा है या अनपढ़ । चित्र अपनी कहानी कह देता है - बिना किसी त्रुटि और भूल के ।"

"एक भारतीय रंगचित्र को यदि वास्तव में भारतीय और वास्तव में महान् बनना है तो उसे भारतीय हृदय को भारतीय ढंग से स्पर्श करना ही होगा, उसे ऐसे किसी विचार या भावना का सम्प्रेषण करना ही होगा जो या तो जाना-पहचाना हो या फिर सहज-सुबोध हो । इसके अतिरिक्त उसे अति श्रेष्ठ स्तर का बनना ही होगा । उसे दर्शक के मन में

किसी ऐसी दिव्य भावना को जागृत करना ही होगा जो उसकी महानता का प्रतीक है ।"

"कला का पुनर्जन्म होना ही है । हमारे सामने आज भावी यूरोपीयवाद का जो रूप है, उसका वह अन्धानुकरण नहीं होगा । कला की जैसी कोई वाणी नहीं है जो जनमन तक पहुँच सके । हो सकता है वह कोई गीत हो, कोई चित्र हो या तेजोमय क्रास (या स्वस्तिक) हो जो सभी जातियों-जनजातियों के हृदय तक पहुँच सके और उन्हें एकता के सूत्र में बाँध सके । और कला का पुनर्जन्म होगा, क्योंकि उसे एक नया विषय मिल गया है - वह है स्वयं भारत ।"

"जिस मानव ने अपने युग की सपूर्ण संस्कृति की पुण्य-सलिला में स्नान नहीं किया है, वह उस संस्कृति की श्रेष्ठ अभिव्यक्ति कर ही नहीं सकता ।"

"तो कला पर आध्यात्मिक संदेश के प्रसार का दायित्व है-भारत में आज राष्ट्रीयता के संदेश-प्रसार का ।"

"अधिक नहीं, केवल दो व्यक्ति समुचित भाव से कला के अध्ययन में जुट जायें तो वे भारत के सपूर्ण कला-जगत् की काया ही पलट देंगे ।"

"अत: कला हमें एक महान् साँझी वाणी के लिए अवसर प्रदान करती है । यदि मातृभूमि का उत्थान करना है तो कला का पुनर्जन्म होना ही है ।"

"विज्ञान की भांति, शिक्षा की भाँति, उद्योग की भाँति, स्वयं व्यापार की भाँति कला के क्षेत्र में भी अब हमें यह व्रत लेना ही होगा । 'हमें मातृभूमि का पुनर्निर्माण करना हैं'-यही हमारा एकमात्र लक्ष्य होगा ।"

नान्यः पंथा

'संस्कार-भारती' का जन्म इसलिए हुआ है कि वह हिन्दू कला को इस योग्य बना सके कि वह भगिनी निवेदिता द्वारा निवेदित भूमिका का निर्वाह कर सके । भगिनी को यह भी पता था कि हिन्दू के व्यक्तिगत जीवन का लक्ष्य है- 'आत्मनोमोक्षार्थं जगद् हिताय च' अर्थात् 'अपने उद्धार के साथ-साथ जगत् का भी कल्याण' । इसका अर्थ यह है कि

हिन्दू पुनर्जागरण की ही नैसर्गिक उपज है मानवीय पुनर्जागरण, भले ही उनके जीवन-काल में उनका यह उद्गार समय से अति पूर्व होता । प्रस्तुत है आर्नोल्ड टायनबी का उद्गार - “भारत में जीवन के प्रति ऐसा दृष्टिकोण, मानवीय समस्याओं के समाधान के लिए ऐसा दर्शन विद्यमान है जो समूचे संसार की आवश्यकताओं की पूर्ति के सुझाव दे सकता है । यदि भारत इस भारतीय आदर्श को जीने में कभी अक्षम रहा, जो सर्वोत्तम है और भारतीय परम्परा की सर्वाधिक कठोर धरोहर है, तो समूची मानवता के लिए यह एक महान् विडम्बना होगी । अत: भारत के कंधों पर आध्यात्मिक दायित्व का बहुत बड़ा भार है ।”

मानव-समाज की अनेकानेक व्याधियाँ हैं और उन्हें दूर करने के लिए अभी तक अनेकानेक उपचार किये जा चुके हैं । पर लगता है कि उनमें से कोई भी समस्या की तह तक नहीं पहुँचा । 'इवोल्यूशन एंड अर्थली डेस्टिनी' (Evolution and the Earthly Destiny) में नलिनीकान्त गुप्त कहते हैं :

“हमें संयुक्त राष्ट्र संगठन की भारी आवश्यकता थी, किन्तु हमारे सामने यथासंभव अति उग्र वैमनस्य है । इससे हमें यह सीख मिलती है कि न तो अकेली राजनीति और न ही अर्थ-व्यवस्था हमारी रक्षा कर सकेगी । संदेश दिया जा चुका है, आज आवश्यकता है हृदय-परिवर्तन की । मानवता के कर्णधारों को पुराने के स्थान पर नया हृदय लगवाना होगा ।”

किन्तु क्या ऐसा 'हृदय-परिवर्तन' संभव है?

“हाँ, संभव है ।” कहता है एक स्वस्थमना, पर उसकी वाणी क्षीण है । एक ऐसा उपचार रह गया है जिसका प्रयोग अभी तक नहीं किया गया है । वह क्या है?

सौंन्दर्यबोध ।

द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद नये मानव-समाज के निर्माण का प्रयास प्रारंभ हुआ । इस प्रयोजन के लिए आर्थिक, राजनीतिक तथा धार्मिक स्वातंत्र्य महत्त्वपूर्ण है । किन्तु सौन्दर्यबोध के बिना क्या वे पर्याप्त होंगे? यह प्रश्न जे० एच० कोसिन्स ने अपनी कृति 'द एस्थेटिक नेसेसिटी आफ लाइफ' में उठाया है । लेखक का आग्रह है कि

सौन्दर्यबोध के माध्यम से मानव के मनोभावों पर अंकुश लगाये बिना नये समाज का गठन नहीं किया जा सकता । मानवीयतारहित बुद्धि विपत्तिजनक सिद्ध हो सकती है ।

कोसिन्स की विचारधारा हमें श्रद्धेय डॉ० हेडगेवार के उद्‌गार का स्मरण कराती है । उन्होंने कहा है, “हमारे देश में कलाओं के तो अनेक महाविद्यालय हैं, पर हृदय का कोई महाविद्यालय नहीं है ।”

पीड़ा से ग्रस्त तथा त्रस्त मानवता के मानस को कोसिन्स के आग्रह में आशा की एक नयी किरण के दर्शन हो सकते हैं । उनके अनुसार कलाएं तो अपराधियों तथा आतंकवादियों को भी शान्त कर सकती हैं ।

इस प्रयोजन के लिए यह एक अनिवार्य अनुपूरक उपाय दीख पड़ता है । उस दशा में निश्चय ही 'संस्कार-भारती' जैसे संघटनों से अपेक्षा की जायेगी कि वे अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर भी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करें ।

आर्नोल्ड टायनबी ने कहा है, “हम आज भी विश्व-इतिहास के इस संक्रमण- अध्याय में जी रहे हैं, लेकिन यह तो पहले से ही स्पष्ट होता जा रहा है कि जिस अध्याय का श्रीगणेश पश्चिमी हुआ था, उसका समापन भारतीय ही होगा, यदि उसकी परिणति मानव-जाति के विनाश में नहीं होनी है ।.... मानव-इतिहास की इस संकटपूर्ण घड़ी में मानव-जाति के उद्धार का एक ही मार्ग है ओर वह है भारतीय मार्ग ।”

लेखक-परिचय

श्री दत्तोपंत ठेंगड़ी, जन्म - अर्वी (वर्धा जिला) में १० नवम्बर, १९२० को । विगत पाँच दशकों से जनसेवा कार्यों में रत । १५ वर्ष की अल्प- आयु में ही वह वर्धा जिला की उस वानरसेना के अध्यक्ष बन गये थे जो समाज-सेवा में समर्पित स्वयंसेवी संगठन थी । १९३६ से १९३८ तक वे वास्तव में 'हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिक आर्मी' से जुड़े रहे । मुख्यत: वे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से जुड़े रहे, वह उनकी प्रेरणा का स्रोत रहा और उसी ने उनके मन में अपने समूचे समाज के कल्याण के प्रति समर्पण-भावना को बल प्रदान किया ।

सादा जीवन, विशद अध्ययन, दृढ़ विचार, आदर्श के प्रति समर्पण, स्पष्ट दृष्टिकोण तथा समर्पित लगन व प्रयत्न से लक्ष्यपूर्ति में दृढ़ विश्वास - इन सब गुणों का संगम ही ठेंगड़ी जी के व्यक्तित्व की रूपरेखा प्रस्तुत कर सकता है । अपनी कृतियों के माध्यम से उन्होंने हमारे समाज की समस्याओं पर पैनी दृष्टि डाली है । उन्होंने समस्याओं की सम्यक् चर्चा की और अपनी राष्ट्रीय चिति को आधार बनाकर विभिन्न क्षेत्रों में अनेक समाधान प्रस्तुत किये ।

१९४२-४९- केरल, असम तथा बंगाल के प्रान्तों में प्रचारक (संगठनकर्ता) के रूप में कार्य किया ।

१९५५- भारतीय मजदूर संघ (बी.एमएस.) की स्थापना की ।

१९५२-५७- भारतीय जनसंघ (दक्षिणी क्षेत्र) के संगठन-मंत्री रहे ।

१९६४-७६- राज्यसभा के सदस्य रहे और अनेक पदों पर कार्य किया, यथा-प्रेसीडियम सदस्य, नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस; संयोजक, जातीय श्रम संघर्ष समिति; सचिव, लोक संघर्ष समिति (आपातकाल मे) ।

१९७९- भारतीय किसान संघ की स्थापना की ।

विदेशों में-

१९६१- रूस के लिए संसदीय शिष्टमंडल के सदस्य ।

१९७७- श्रमिक-संघ (ट्रेड यूनियन) आन्दोलनों का अध्ययन करने के लिए अमरीका के आमंत्रण पर जिनेवा में हुए द्वितीय अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलन के प्रतिनिधि ।

१९८५- ३ से १९ अप्रैल, आमंत्रण पर भारतीय मजदूर संघ के प्रतिनिधि के रूप में चीन का दौरा ।